प्राक्कथन (केनोपनिषद्)

यह उपनिषद् सामवेद के ब्राह्मण का भाग होने से सामवेदीय है। सामवेद की 'तवल्कार' शाखा के अन्तर्गत होने से इसे 'तवल्कारोपनिषद्' कहा जाता है । इस शाखा में प्रथम आठ अध्यायों में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया गया है, और नवमाध्याय में ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, जो 'तवल्कारोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है । इस शाखा के 'तवल्कार' नाम का कारण यह प्रतीत होता है कि जिस ऋषि ने सामगान के समय में हस्तचालन द्वारा सामवेद के उदात्तादि स्वरों का बोध कराया, और उस ऋषि के नाम से शाखा का नाम 'तवल्कार' प्रसिद्ध हुआ । यथार्थ में इन शाखाओं के लुप्त हो जाने के कारण कुछ भी निर्देश करना कठिन है । और इस उपनिषत् का प्रारम्भ 'केन' इस तृतीयान्त पद से प्रारम्भ होने के कारण इसका नाम 'केनोपनिषद् अधिक प्रसिद्ध है ।

इस उपनिषत् का प्रतिपाद्यविषय अवाङ्मनसगोचर एकमात्र ब्रह्म है । उपनिषत् के अन्त में विषय की समाप्ति पर लिखा है–"ब्राह्मी वाव ते उपनिषदमब्रूमेति ।" अर्थात् हम ने इसमें ब्रह्मविद्या का प्रवचन किया है । इसमें 'केन, कः, किम्' इत्यादि प्रश्नों के द्वारा ब्रह्मविषय में जिज्ञासा उत्पन्न करके ब्रह्म का विवेचन किया गया है । जिज्ञासा विना प्रश्न के उत्पन्न नहीं होती । जिज्ञासा के लिए प्रश्न का होना अनिवार्य है । वेद में भी प्रश्नोत्तर शैली से अनेक स्थलों पर ज्ञेय विषय पर प्रकाश डाला गया है । जैसे–

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥ (ऋ० १०।१२९।६)

किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ (ऋ० १०।१२९।१)

इसी प्रश्नोत्तर शैली से इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन किया गया है । जीवों को उस ब्रह्म की एकमात्र उपासना करनी चाहिए, जिसके आश्रय से श्रोत्रादि इन्द्रियों में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है । ब्रह्म के स्थान पर जो दूसरे जड़ देवताओं की आजकल उपासना की जा रही है, उसका इस उपनिषद् में बार-बार 'नेदं यदिदम् उपासते' कहकर स्पष्ट रूप से खण्डन किया गया है । और यह

भी निर्देश किया गया है कि—

'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (केनो० २।४)

इस ब्रह्मविद्या से ही अमृतम्=मृत्यु आदि रहित मोक्ष प्राप्त होता है। और यदि हमने इस विद्या की उपेक्षा की तो उपनिषत्कार ने सावधान करते हुए लिखा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥
(केनो० २।५)

अर्थात् मनुष्य-जन्म में ब्रह्म की उपासना से ब्रह्म को जान लिया, तो मनुष्य जन्म की सफलता है, अन्यथा दुःख-बन्धन तथा विभिन्न योनियों में आवागमन के कारण सुखों की प्राप्ति दुर्लभ है । और जो—इस ब्रह्मविद्या को जान लेता है, उसका फल बताते हुए उपनिषत्कार स्वयं लिखते हैं—

यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानम्, अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति ॥ (केनो० ४।९)

अर्थात् जो इस ब्रह्मविद्या को जानकर सम्यक् उपासना करते हैं, वे पापकर्मों से पृथक् होकर चिरकाल तक स्वर्ग=मोक्ष में स्थिर होते हैं। इसलिए—'तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमुपासितव्यम् ॥' (केन० ४।६) वह ब्रह्म ही वननीय=सम्भजनीय तथा उपासनीय है ।

ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के साधन—

गुरु ने शिष्य की ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा का उत्तर देकर ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के साधनों का भी निर्देश किया है—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥
(केन० ४।८)

ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के निम्न साधन हैं—

(१) **तपः**=शीतोष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा, मान-अपमानादि द्वन्द्वों की सहनशीलता अथवा समदृष्टि रखना ।

(२) **दमः**=इन्द्रियों को वश में रखना ।

(३) **कर्म**=वेदोक्त अग्निहोत्रादि श्रेष्ठ कर्मों का करना । इन तीन साधनों से लोक में प्रतिष्ठा होती है और चञ्चलतादि दोषों के दूर होने पर प्रतिष्ठा=निश्चल स्थिति है ।

(४) **वेदाः सर्वाङ्गानि**=छः अङ्गों के सहित वेदों के पठन-पाठन से अविद्या का नाश करना और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ।

(५) **सत्यम्**=मन, वचन व कर्म से सत्य का अनुष्ठान करना । क्योंकि यह ब्रह्म-ज्ञान के सभी साधनों का आयतन=आधार है । सत्य के विषय में कहा गया है-

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ॥

अर्थात् हजारों अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान से जो फल प्राप्त होता है, उससे भी अधिक सत्याचरण का फल होता है ।

इस प्रकार इस उपनिषत् का मानव-जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

स्थानम्-
भूपेन्द्रपुरी (मोदीनगरम्)
भाद्रपदशुक्ला नवमी,
संवत् २०३५ वि०,
११ सितम्बर, १९७८ ई०

विनीत
राजवीर शास्त्री
(सम्पादक-दयानन्दसन्देश)

अथ केनोपनिषद्-भाष्यम्

तत्र प्रथमः खण्डः

(महर्षिदयानन्द-स्वामिशङ्कराचार्ययोः तुलनात्मकसमीक्षया संवलितम्)

शरीरादि अखिल सङ्घातों के रचयिता तथा आद्यप्रेरक ब्रह्म के विषय में शिष्य गुरु से जिज्ञासा करता है—

**केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१।१॥**

पदार्थ—(केन) किससे (प्रेषितम्) प्रेरित (मनः) मन (इषितम्) अभीष्ट विषय को (पतति) प्राप्त होता है और (केन) किससे (प्रथमः) सब इन्द्रियों से प्रथम (युक्तः) अपने कर्म में नियत हुआ (प्राणः) प्राण-वायु (प्रैति) अपना व्यापार करता है और (केन) किससे (इषिताम्) प्रेरित (इमाम्, वाचम्) इस वाणी को (वदन्ति) मनुष्य बोलते हैं, और (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय तथा (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय को (कः) कौन (उ) प्रसिद्ध (देवः) प्रकाशक देव (युनक्ति) अपने-अपने विषय के ग्रहण करने में प्रथम उत्पत्तिसमय में नियुक्त करता है ।

भावार्थ—वेद में कहा है—"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५) अर्थात् शरीर में नेत्रादि पांच ज्ञान-इन्द्रियां, मन व प्राण ये सात ऋषि प्रत्येक शरीर में कार्य कर रहे हैं । वेद में अन्यत्र लिखा है="अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।" (अथर्व०) अर्थात् यह शरीर देवों के आठ चक्र और नव द्वार वाली अजेय नगरी है । यहां उपर्युक्त ऋषियों को ही देव कहा गया है । यद्यपि व्यवहार दशा में शरीर में ये जीवात्मा के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं, किन्तु इन सब को विषयग्रहण करने का सामर्थ्य परब्रह्म ही देता है । चक्षु रूप का ही ग्रहण करता है, रस का नहीं, श्रोत्र शब्द का ही ग्रहण करता है, रूप का नहीं । यह अपने-अपने विषय में जो नियतभाव व्यवस्था देखने में आती है, यह जीवकृत व्यवस्था नहीं है, इसका नियन्ता परब्रह्म ही है । और उत्तर प्रश्नानुरूप ही होना चाहिए । अगले उत्तर से भी यही स्पष्ट

है कि यह प्रश्न ब्रह्म-विषयक ही है । अतः इन प्रश्नों को जीवविषयक लगाना सर्वथा असङ्गत तथा प्रकरण-विरुद्ध है ।

समीक्षा—श्री शङ्कराचार्य जी इस श्लोक के प्रारम्भ में लिखते हैं—"तस्माद् दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयं केनेषितमित्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते ।" अर्थात् संसार के दृष्ट व अदृष्ट बाह्य साधनों तथा साध्यों से विरक्त पुरुष को प्रत्यगात्मविषयक (प्रति शरीर में विद्यमान आत्मविषयक) ब्रह्म-जिज्ञासा को 'केनेषितम्' इत्यादि श्रुति से दिखाया जाता है ।

यहां उपनिषत्कार का प्रश्न प्रत्यगात्मविषयक (जीवात्मा) नहीं है। क्योंकि प्रश्न के अनुसार ही उत्तर होना चाहिए । 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर की सङ्गति जीवात्मा के साथ कदापि नहीं लगती । इस समस्त देहेन्द्रिय सङ्घात का रचयिता ब्रह्म है, जीवात्मा नहीं । परन्तु श्री शङ्कराचार्य जी ने इन प्रश्नों को न समझकर भ्रान्तिवश जीवात्मापरक लगाते हुए लिखा है—

केनेषितं कस्येष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति=गच्छति, स्वविषये नियमेन व्याप्रियते ।" अर्थात् किसकी इच्छा से मन स्वविषय में नियम से प्रवृत्त होता है ।

यहां 'इच्छा' तथा 'प्रेरित' अर्थों से महान् अन्तर आ गया है । इच्छा जीवात्मा का धर्म है ब्रह्म का नहीं । मन तथा दूसरी इन्द्रियां जीवात्मा की इच्छा से स्वविषयों में प्रवृत्त होती हैं, इसलिए इनके कर्मों के फल का भोक्ता जीवात्मा ही होता है । और मन ज्ञानादि की उपलब्धि का साधन है—नेत्र रूप का, श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है अन्य विषयों का नहीं, यह नियतव्यवस्था परब्रह्म की है । इस रहस्य को न समझकर श्री शङ्कराचार्य जी का यह कथन कितना भ्रान्तिजनक है—

"सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः ।" (केन० १।२ शा० भा०)

अर्थात् ब्रह्म उसे कहते हैं कि जिसके प्रयोजन के लिए मनादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है । यही इस समस्त प्रकरण का विवक्षित अभिप्राय है । जिस ब्रह्म के विषय में उपनिषदों में लिखा है—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते ॥

अर्थात् उस ब्रह्म का कोई कार्य तथा करण नहीं है, उसके लिए

मनादि को करण मानना कितनी मिथ्या मान्यता है । जीवात्मा की ब्रह्म से पृथक् सत्ता न मानने से शङ्कर-स्वामी को ऐसे मिथ्या अर्थ करने पड़े।

प्रथम मन्त्र में कहे प्रश्नों का उत्तर कथन करते हैं–

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥१।२

***पदार्थ*—**(यत्) जो (श्रोत्रस्य) कर्णेन्द्रिय का (श्रोत्रम्) श्रोत्र अर्थात् श्रवण-शक्ति देने वाला है, (मनसः) सुख-दुःखादि ज्ञान के साधन अन्तःकरण का (मनः) मन अर्थात् मननशक्ति देने वाला, (वाचः) वाणी का (ह) निश्चय से (वाचम्) वाणी अर्थात् बोलने की शक्ति देने वाला है, (प्राणस्य) प्राण का (प्राणः) प्राणशक्ति देने वाला है (चक्षुषः) चक्षु का (चक्षुः) चक्षु अर्थात् दर्शनशक्ति देने वाला है, (सः) उसको (उ) निश्चय से (धीराः) ध्यानी लोग (अतिमुच्य) सब पदार्थों से भिन्न मानकर अथवा इन्द्रियों के सुखों से पृथक् रहकर (अस्मात्, लोकात्) इस मृत्युलोक से (प्रेत्य) मरकर=पृथक् होकर (अमृताः) मरणधर्मरहित मुक्त (भवन्ति) हो जाते हैं ।

महर्षि दयानन्द ने (केन० १।२) के श्लोक के एक भाग का अर्थ करते हुए लिखा है–

"स उ प्राणस्य प्राणः ।" इस केनोपनिषत् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है । "प्राणो अग्निः परमात्मेति" यह मैत्र्युपनिषत् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है । प्राण, अग्नि, परमात्मा ये तीनों नाम एकार्थ वाची हैं तथा ईशानादि भी संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध से स्पष्ट हैं ।" (ल० भ्रा० नि० १९३ पृ०)

***भावार्थ*—**वैसे तो समस्त संसार परब्रह्म की रचना है, किन्तु मानव के शरीर की रचना बहुत ही अद्भुत है । जिसको पूर्णतः मानव आज तक नहीं जान सका है । इस शरीर में दर्शन-शक्ति, श्रवण-शक्ति, मनन-शक्ति, बोलने की शक्ति और जीवन-शक्ति का देने वाला होने से परब्रह्म चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् तथा प्राणादि नामों से कहा जाता है । उस परब्रह्म को जानना तथा उसका विवेक करना मानव-शरीर में ही सम्भव है । मानव जीवन का लक्ष्य भी परब्रह्म को प्राप्त करना ही है । जो परब्रह्म को इन सब प्राकृतिक साधनों से पृथक् जानकर प्रकृति के बन्धनों

में नहीं फंसता, उसे ही उस ब्रह्म का ज्ञान होता है और वही मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है । वेद में इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है–

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

(यजु० ३१।१८)

अर्थात् उस ब्रह्म को ही जानकर जीव जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष को प्राप्त करता है । मोक्ष-प्राप्ति का इससे भिन्न कोई उपाय नहीं है ।

समीक्षा—श्री शङ्कराचार्य जी ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है–

"कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः ? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः । ''''''अयमत्र पदार्थः–श्रोत्रं तावत् स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम् । तच्च स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति ।"

"तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद् रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव ।"

अर्थात् 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' यहां द्वितीय 'श्रोत्रं' शब्द का अर्थ स्वविषय श्रवण-शक्ति है । इसी प्रकार दूसरे 'चक्षु' आदि शब्दों का अर्थ स्वविषयग्रहण-सामर्थ्य है और यह सामर्थ्य सर्वान्तरात्मा चैतन्य आत्मज्योति से प्राप्त होता है ।

यह अर्थ तो शङ्कर-स्वामी का प्रकरण-सङ्गत है । किन्तु यहीं पर ब्रह्म का लक्षण नितान्त असत्य है–"सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद् ब्रह्मेति" अर्थात् ब्रह्म वह है कि जिसके प्रयोजन के लिए समस्त करण=इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है । इन्द्रियों से ब्रह्म का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत जीवात्मा का सिद्ध होता है । ब्रह्म तो इन्द्रियों में स्वविषय-ग्रहण सामर्थ्य प्रदान करता है । ब्रह्म के विषय में तो कहा है कि–

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ॥

(श्वेता० ३।१९)

अर्थात् ब्रह्म को इन चक्षु आदि इन्द्रियों की कोई आवश्यकता नहीं है । ब्रह्म से भिन्न चेतनसत्ता जीवात्मा की ही है । उसी को इन्द्रियों की आवश्यकता होती है । उसको स्वीकार करने से अद्वैतवाद की मिथ्या-मान्यता खण्डित हो जाती है । 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इत्यादि श्रुति से भी यह स्पष्ट हो रहा है कि चक्षु आदि इन्द्रियां जीवात्मा के साधन हैं, इन

से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता ।

वह परब्रह्म इन्द्रियागोचर है, इस विषय में गुरु प्राचीन आचार्यों की साक्षी देते हुए कथन करते हैं–

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्याद् अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिता-दधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे[१] ॥१।३॥

पदार्थ—(तत्र) उस ब्रह्म में (चक्षुः) रूप ग्रहण करने वाला नेत्र (न, गच्छति) नहीं जाता है अर्थात् ब्रह्म के निराकार होने से नेत्र उसका ग्रहण करने में असमर्थ है, (वाक्) वाणी (न गच्छति) उसकी इयत्ता को नहीं जानती=नहीं कह सकती, (मनः, न) मन प्राप्त नहीं कर सकता। (यहां चक्षु आदि उपलक्षणार्थक ही है । दूसरी इन्द्रियां भी ब्रह्म को जनाने में असमर्थ हैं ।) इस कारण (न विद्मः) हम ब्रह्म को नहीं जानते और (न विजानीमः) विशेष करके भी हम ब्रह्म को नहीं जान सकते (यथा) जैसे (एतत्) इस उक्त ब्रह्म का (अनुशिष्यात्) शिष्यादि को उपदेश किया जाए । अर्थात् यथार्थ में जानी हुई वस्तु का ही उपदेश किया जाता है, किन्तु ब्रह्म इन्द्रियागोचर है, उसका उपदेश कैसे किया जाए ? (तत्) वह ब्रह्म (विदितात्) इन्द्रियों से जाने हुए विषय से (अन्यत्, एव) भिन्न ही है । (अथो) और (अविदितात्) अज्ञात वस्तु से (अधि) ऊपर=भिन्न है, अथवा प्रकृति के अव्यक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं से ब्रह्म भिन्न है । वह ब्रह्म ज्ञात व अज्ञात दोनों से विलक्षण है । (इति) इस प्रकार (पूर्वेषाम्) पूर्वज आचार्यों के ब्रह्म-विषयक वचन (शुश्रुम) हम ने सुने हैं, (ये) जो आचार्य गुरुजनों ने (नः) हमारे लिए (तत्) उस ब्रह्म के विषय में (व्याचचक्षिरे) उपदेश रूप में कहे हैं ।

भावार्थ—वह ब्रह्म निराकार, निर्विकार व अनन्त होने से अतीन्द्रिय है । उसकी इयत्ता को इन्द्रियां नहीं जान सकतीं । यहां ब्रह्म के विषय में 'विद्मः विजानीमः' इन दोनों क्रियाओं से यह स्पष्ट किया गया है कि जैसे जब हम किसी वस्तु को दूर देखते हैं, तो अवयव-विभाग का ज्ञान न होने से एक सामान्य ज्ञान होता और समीप में जाने पर अवयवों के

---

१. श्री शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र के दो खण्ड करके (३, ४) व्याख्या की है ।

विभागपूर्वक जो ज्ञान होता है, वह विशेष ज्ञान होता है । ब्रह्म को अतीन्द्रिय होने से हम सामान्य तथा विशेष इन दोनों प्रकारों से नहीं जान सकते । फिर उस असीम व अनन्त देव का दूसरों के लिए कैसे उपदेश किया जाए ? वह ब्रह्म विदित और अविदित अर्थात् ज्ञात व अज्ञात से भी परे है । उसे विदित (ज्ञात) कहना उसे सीमित करना है, और उसे अविदित (अज्ञात) कहना उसे अवस्तु ही बताना है । अतः वह ब्रह्म न तो ज्ञात है और न वह अज्ञात है । वह विदित (जाना गया) ऐसा भूतकालिक प्रयोग का विषय नहीं है और नहीं भविष्यत्काल का ही विषय है कि जाना जा सकेगा । उसके लिए तो वर्त्तमान का प्रयोग ही सार्थक हो सकता है कि उसे जानने का यत्न कर रहा हूं । क्योंकि वह ब्रह्म अनन्त है, उसे जितना जाना जायेगा, वह अल्प ही रहेगा । प्राचीन ऋषि निरभिमानी होकर ब्रह्म को जानने में निरन्तर लगे रहते थे । उसका पूर्णतः न जानना ही उसकी महत्ता का द्योतक है ।

वह ब्रह्म वाणी का विषय क्यों नहीं है ? और उपासना किसकी करनी चाहिए ? यह कथन करते हैं ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।४॥

पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (वाचा) वाणी से (अनभ्युदितम्) नहीं कहा जा सकता है अथवा प्रकाशित नहीं होता (येन) जिस ब्रह्म से (वाक्) वाणी (अभ्युद्यते) प्रकाशित होती है अर्थात् ब्रह्मकृत नियम से ही वाणी उच्चारित होकर शब्दार्थ का बोध कराती है । (तत्, एव) उस वाणी के प्रकाशक को ही (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जान (यत्) जो (इदम्) यह वाणी का विषय शब्दादि कार्य जगत् है इसकी जो मनुष्य (उपासते) उपासना करते हैं, (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—"जो वाणी की इदन्ता" अर्थात् यह जल है, लीजिए वैसा विषय नहीं और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर और जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं ।" (सत्यार्थ० ३०९ पृ०)

भावार्थ—ब्रह्मर्षि ब्रह्म का वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों के आश्रय

से उपदेश करते रहते हैं । विना उपदेश के ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं है । फिर यह कहना कि ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता क्या परस्पर विरुद्ध प्रतीत नहीं होता ? महर्षि के अर्थ से इस जिज्ञासा का समाधान हो जाता है कि वाणी जड़ पदार्थों के समान ब्रह्म का ज्ञान नहीं करा सकती क्योंकि ब्रह्म के धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है । शब्दों के कथन मात्र से जड़ पदार्थों के समान ब्रह्मज्ञान नहीं होता । क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं ।

शङ्करभाष्य में इस श्रुति से अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"श्रोतुराशङ्का जाता कथं त्वात्मा ब्रह्म ? आत्मा ही नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च संसारी वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान् स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति। तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रः प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति न त्वात्मा लोकप्रत्ययविरोधात् । यथान्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मेत्याचक्षते । तथा कर्मिणः—अमुं यजामुं यज इत्यन्या एव देवता उपासते । तस्माद् युक्तं यद् विदितमुपास्यं तद् ब्रह्म भवेत्ततोऽन्य उपासक इति ।"

अर्थात् सुनने वाले को ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि आत्मा ब्रह्म कैसे हो सकता है ? क्योंकि आत्मा उसका नाम है जो सांसारिक कर्मों तथा उपासना का अधिकारी है और साधनों को करके ब्रह्मादि देवों को अथवा स्वर्ग को प्राप्त करना चाहता है । इसलिए आत्मा से उपास्य विष्णु, ईश्वर, इन्द्र, प्राण या ब्रह्म नाम वाला भिन्न ही हो सकता है । आत्मा ब्रह्म नहीं हो सकता है, लोकज्ञान से विरुद्ध होने से । जैसे दूसरे तार्किक आत्मा को ईश्वर से भिन्न मानते हैं वैसे ही कर्मी=मीमांसक भी—'इसका यजन कर' 'इसका यजन कर' इस प्रकार आत्मा से भिन्न देवता की उपासना करते हैं । इसलिए यह स्पष्ट विदित होता है कि उपास्य-ब्रह्म से उपासक आत्मा भिन्न है ।

ऐसी आशंका उत्पन्न करके उसका समाधान इस श्रुति में शाङ्करभाष्य में दिखाते हुए लिखा है—

"यत्=चैतन्यमात्रसत्ताकं, वाचा=पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या, अनभ्युदितम्=अप्रकाशितम्, येन=ब्रह्मणा सकरणा वाक् अभ्युद्यते=चैतन्य-ज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यते, तदेवात्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति विद्धि=विजानीहि । नेदं ब्रह्म यदिदमित्युपाधिभेदविशिष्ट-मनात्मेश्वराद्युपासते=ध्यायन्ति ।"

अर्थात् जो चैतन्यमात्र सत्ता वाला ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता, जिस ब्रह्म से वाणी प्रकाशित होती है, प्रयोग की जाती है, उसी आत्मस्वरूप ब्रह्म को जानो । और यह ब्रह्म नहीं है जो उपाधि विशिष्ट अनात्मा को ईश्वरादि नामों से ध्यान करते हैं ।

समीक्षा—इस शाङ्कर-भाष्य में निम्न-दोष हैं—

(१) इससे अद्वैतवाद की सिद्धि कदापि नहीं होती, क्योंकि इसमें 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' कहकर जीवात्मा तथा ब्रह्म को भिन्न-भिन्न बताया है । ज्ञाता तथा ज्ञेय और उपासक तथा उपास्य दोनों एक कभी नहीं हो सकते । और 'उपासना' का अर्थ है—समीप बैठना । यदि जीवात्मा और ब्रह्म एक ही हैं तो कौन किसके पास बैठता है ?

(२) इस श्रुति में शङ्कर ने 'अभ्युद्यते' क्रिया का अर्थ 'प्रयोग करना' माना है, यह भी ब्रह्म-विषय में सङ्गत नहीं होता । क्योंकि ब्रह्म वाणी का प्रयोग कैसे कर सकता है, वह तो वाणी आदि इन्द्रियों से रहित है । परब्रह्म के वेद-ज्ञान को सीखकर वाणी की प्रवृत्ति होती है, वह ब्रह्म निराकार व निरवयव होने से वाणी का प्रयोग नहीं कर सकता। और शरीरादि बन्धनों से रहित होने से वह ब्रह्म करण=इन्द्रियों से रहित है । स्वयं श्री शङ्कराचार्य ने भी ब्रह्म को ईशावास्योपनिषत् के 'सपर्यगाच्छुक्रमकायम्०' मन्त्र में 'अकायम्=अशरीरम्' स्वीकार किया है । और वहीं भाष्य में यह भी माना है कि वह ब्रह्म त्रिविध शरीर=सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर तथा कारणशरीरों से रहित है ।

अत: शङ्कर स्वामी का यह कथन नितान्त असत्य तथा भ्रान्तिमूलक है कि—"येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते=प्रयुज्यते ।" ब्रह्म द्वारा करणसहित वाणी का प्रयोग किया जाता है ।

(३) इस श्रुति में ब्रह्म से भिन्न की उपासना का निषेध किया है । ब्रह्म से भिन्न दो ही वस्तुएं हैं—(१) जीवात्मा और (२) प्रकृति । जीवात्मा को यह उपदेश दिया जा रहा है और वह उपासक है । अत: ब्रह्म से भिन्न जो उपास्य का प्रतिषेध किया है, वह प्रकृति=जड़ पदार्थों की उपासना का ही निषेध किया गया है । परन्तु श्री शङ्कराचार्य इस रहस्य को न समझकर अथवा दुराग्रहवश लिखते हैं—

"नेदं ब्रह्म—यदिदमित्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वराद्युपासते=ध्यायन्ति।" अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है, जो उपाधिभेद से अनात्मा या ईश्वरादि नामों की

उपासना करते हैं । जब इन वेदान्तियों के मत में ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है तो ये उपाधिभेदविशिष्ट जीव व ईश्वरादि क्या वस्तुएं हैं ? माया के आश्रय से इनकी प्रतीति मानना भी मिथ्या है । महर्षि दयानन्द इस विषय में लिखते हैं–

"क्योंकि तुम माया का अर्थ ऐसा करते हो कि जो वस्तु न हो और भासे है तो इस बात को वह मानेगा जिसके हृदय की आंख फूट गई है क्योंकि जो वस्तु नहीं उसका भासमान होना सर्वथा असम्भव है। जैसा वन्ध्या के पुत्र का प्रतिबिम्ब कभी नहीं हो सकता ।"

(सत्यार्थ० एकादशसमु०)

नवीन वेदान्ती अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म को ही जीव मानते हैं जीव की पृथक् सत्ता नहीं मानते । और इस उपाधि को अनिर्वचनीय कहते हैं। वह न तो जड़ है, न चेतन । न वह सत्य है और न वह असत्य । किन्तु इन वेदान्तियों का यह कथन 'वदतो व्याघातः' के समान है । जिसको मानते हुए भी उसे असत् कहते हैं । और उनका यह दृष्टान्त भी उनकी मान्यता को खण्डित करता है कि जैसे एक व्यापक निराकार आकाश ही घटाकाश, मठाकाशादि भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वैसे एक ब्रह्म ही अज्ञानवश (मायावश) समष्टि, व्यष्टि और अन्तःकरणों की उपाधियों से पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहा है । इस दृष्टान्त में जैसे घट, मठ, मेघादि को आकाश से भिन्न स्पष्ट रूप से मानकर घटाकाशादि बताते हैं, वैसे ब्रह्म से भिन्न कारण कार्यरूप जगत् और जीव को क्यों नहीं मानते? ब्रह्म को उपाधिवश जीवादि बताना वैसी ही मिथ्या बात है जैसे घटाकाशादि में कोई घटादि को भी आकाश बताने का दुस्साहस करने लगे ।

(४) इस श्रुति में 'नेदं यदिदमुपासते' कहकर स्पष्टरूप से ब्रह्म से भिन्न वस्तु को माना है । 'विद्धि' क्रिया भी ब्रह्म से भिन्न चेतनसत्ता (जीव) को बता रही है । जड़-पदार्थों के लिए ऐसी क्रियाओं का प्रयोग असम्भव है । अतः इससे त्रैतवाद की ही सिद्धि होती है । अद्वैतवाद का तो इससे स्पष्ट रूप से खण्डन हो ही रहा है ।

ब्रह्म मन का विषय क्यों नहीं ? और उपासना किसकी करनी चाहिए ? यह कथन करते हैं–

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।५॥

पदार्थ—(यत्) जिस ब्रह्म को (मनसा) मन से (न, मनुते) नहीं जाना जाता अर्थात् वह ब्रह्म 'इयत्ता' करके मन में नहीं आता । (येन) जिस ब्रह्म से (मनः) मन (मतम्) जाना गया (आहुः) ब्रह्मर्षि कहते हैं (तत्, एव) उसी मनीषी ब्रह्म[१] को ही (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जान (यत्) जो (इदम्) यह मन=अन्तःकरण है जिसकी (उपासते) सामान्य लोग उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—"जो मन से 'इयत्ता' करके मन में नहीं आता, जो मन को जानता है, उसी को तू ब्रह्म जान, उसी की उपासना कर । जो उससे भिन्न जीव और अन्तःकरण है, उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान पर मत कर ।" (सत्यार्थ० ३०९ पृ०)

भावार्थ—यहां जो ब्रह्म का मन से जानने का निषेध किया है, उसका तात्पर्य यही है कि मन का इतना सामर्थ्य नहीं है, जो ब्रह्म को पूर्णतः जानकर 'इयत्ता' में ला सके । वैसे मन (अन्तःकरण) ब्रह्म को जानने में साधन है । जैसा कि कहा है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' अर्थात् मनुष्यों का मन ही बन्धन व मोक्ष का कारण है अतः प्रस्तुत प्रकरण में कोई विरोध नहीं है ।

समीक्षा—इस श्रुति की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"यन्मनसा न मनुते यत्=चैतन्यज्योतिः, मनसोऽवभासकं न मनुते=न सङ्कल्पयति नापि निश्चिनोति मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात् । ··· सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तमाहुः= कथयन्ति ब्रह्मविदः तस्मात्तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक् चेतयितारं ब्रह्म विद्धि ।"

अर्थात् जो ब्रह्म मन=अन्तःकरण से सङ्कल्प-विकल्प तथा निश्चय नहीं करता और जिस ब्रह्म से सवृत्तिक मन व्याप्त है । इसलिए उसी को ब्रह्म जानो, आत्मा के प्रति मन का=चेतयिता=ज्ञान कराने वाला अथवा प्रेरक है ।

यहां शाङ्करभाष्य में निम्न दोष हैं—

(क) "ब्रह्म मन से सङ्कल्प-विकल्प तथा निश्चय नहीं करता ।"

---

(१) परब्रह्म को (यजु० ४०।८) वेद में 'मनीषी' कहा गया है जिसका अर्थ महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार किया है—"यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति" (ऋ० भू० वेदनित्यत्व०) अर्थात् वह ब्रह्म सब जीवों के मनों का साक्षी व ज्ञाता है ।।

यह अर्थ मिथ्या होने से माननीय नहीं हो सकता । क्योंकि ब्रह्म को 'स पर्यगात्०' मन्त्र में अकायम्=शरीर रहित कहा है । जिसके भाष्य में स्वयं श्री शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को सूक्ष्म, कारण तथा स्थूल शरीरों से रहित माना है । मन तो सूक्ष्म-शरीर का एक घटक ही है । जब ब्रह्म सूक्ष्म शरीर होने से मनादि करणों से रहित है, तब उसके लिए यह कहना नहीं सङ्गत होता कि वह ब्रह्म मन से सङ्कल्पादि नहीं करता । यथार्थ में यहां 'यत्' पद प्रथमान्त नहीं, प्रत्युत द्वितीयान्त है, जिसको शङ्कर-स्वामी ने भ्रान्तिवश नहीं समझा। द्वितीयान्त मानकर अर्थ इस प्रकार होगा—"जिस ब्रह्म को मन से 'इयत्ता' करके नहीं जाना जाता ।" इस अर्थ में कोई दोष नहीं आता ।

(ख) जीवात्मा के प्रति मन ब्रह्म चेतयिता=ज्ञान कराने वाला या प्रेरक है, यह बात भी शङ्कर-स्वामी की मिथ्या ही है । जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न चेतन सत्ता है, जिसके आधीन मनादि साधन कार्य करते हैं । यदि ब्रह्म को मनादि साधनों का 'चेतयिता' मान लिया जाए तो जीव कर्म करने में स्वतन्त्र कहां रह सकता है ? और कर्मफल भी जीवों को न मिल कर मनादि के चेतयिता को ही मिलना चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता । स्वयं शङ्कर स्वामी ने 'द्वा सुपर्णा०' (मु० ३।१।१) की व्याख्या में क्षेत्रज्ञ=जीवात्मा को कर्मफल का भोक्ता और सर्वज्ञ ईश्वर को अभोक्ता स्वीकार किया है । इसलिए मन का चेतयिता ब्रह्म को मानकर शङ्करस्वामी ने एक परस्पर विरुद्ध तथा उपनिषत्कार के अभिप्राय से विरुद्ध व्याख्या की है ।

(ग) और यहां "नेदं यदिदमुपासते" कहकर उपनिषत्कार उपास्य चेतन-ब्रह्म उपासक चेतन-जीवात्मा तथा ब्रह्म से भिन्न-प्रकृति=मूर्त्त पदार्थों का प्रतिषेध करने के कारण स्पष्टरूप से त्रैतवाद को मान रहे हैं। जिसकी शङ्कर-स्वामी ने मिथ्याग्रह के कारण उपेक्षा की है ।

ब्रह्म चक्षु-इन्द्रिय का विषय क्यों नहीं है ? और उपासनीय कौन है ? इसका कथन करते हैं—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति[१] ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।६॥

पदार्थ—(यत्) जिस ब्रह्म को (चक्षुषा) रूपज्ञान के साधननेत्र

(१) पश्यतीति पाठान्तरम् उपलभ्यते ।

से (न, पश्यति) कोई नहीं देख सकता । (येन) जिस ब्रह्म के सामर्थ्य से (चक्षूंषि) सब आंखें=[प्रकाशक सूर्यादि] (पश्यन्ति) देखती हैं (तत्, एव) उसी चक्षुओं के चक्षु को (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जानो (यत्) जो (इदम्) यह चक्षु से ग्रहण करने योग्य मूर्त्त जगत् है, अथवा चक्षु के कारणभूत सूर्य, विद्युत् व अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, जिनकी (उपासते) सामान्यजन उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है–

"जो आंख से नहीं दीख पड़ता और जिससे सब आंखें देखती हैं, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर । और जो उससे भिन्न सूर्य, विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, उनकी उपासना मत कर।"

(सत्यार्थ० ३०९ पृ०)

श्री शङ्कराचार्य जी इसके भाष्य में लिखते हैं–"यच्चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोत्यन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन लोकः । येन चक्षूंष्यन्तः-करणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेवेत्यादि पूर्ववत् ।" अर्थात् जिस ब्रह्म को नेत्र से लोक अन्तःकरण के योग से नहीं देखता है । जिस चैतन्यात्मज्योति से चक्षूंषि=अन्तःकरण की विभिन्न वृत्तियों को लोक देखता है, उस को ब्रह्म जानो ।

समीक्षा–(क) यहां उपासना के योग्य ब्रह्म का प्रकरण है । और 'यत्' 'तद्' शब्दों का नित्य सम्बन्ध होता है । 'यत्' शब्द से जिसको कहा जा रहा है, 'तद्' शब्द भी उसी का निर्देश करता है । शाङ्कर-भाष्य में यहां यह दोष है–"जिस चैतन्यात्मज्योति से चक्षु वृत्तियों को देखता है उसी को ब्रह्म जानो ।" यहां प्रश्न यह है कि चक्षु से देखने वाला जीवात्मा है, या ब्रह्म । ब्रह्म तो इन्द्रियरहित है, अतः जीवात्मा ही चक्षु से देखता है, उसे ब्रह्म कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि वह स्वयम् उपासक है, वह उपास्य नहीं हो सकता । उपास्य उपासक से अवश्य भिन्न होना चाहिए ।

(ख) शाङ्कर-भाष्य में दूसरा दोष यह है कि उन्होंने 'चक्षूंषि' इस बहुवचन पद के अर्थ को नहीं समझा । यहां इस पद से शरीरस्थ चक्षु-इन्द्रिय का ग्रहण नहीं है, अपितु नेत्रेन्द्रिय के देखने में सहायक सूर्यादि प्रकाशक व दर्शक पदार्थों का ग्रहण है । क्योंकि ये सूर्यादि ब्रह्म के सामर्थ्य से ही प्रकाश कर रहे हैं । उपनिषद् में अन्यत्र इसी भाव को

स्पष्ट रूप से कहा है–

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ (कठो० ५।१५।)

अर्थात् ब्रह्म के प्रकाश से ही सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं । इस 'चक्षूंषि' बहुवचनान्त पद को देखकर 'पश्यन्ति' बहुवचनान्त ही पाठ उचित प्रतीत होता है । 'पश्यति' पाठ की यहां सङ्गति नहीं होने से 'अपपाठ ही मालूम पड़ता है । महर्षि दयानन्द की व्याख्या बुद्धिगम्य तथा प्रकरणानुकूल होने से स्पष्ट है ।

ब्रह्म श्रोत्रेन्द्रिय का भी विषय क्यों नहीं है ? और उपासना किसकी करनी चाहिए ? यह कथन करते हैं–

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।७॥

पदार्थ—(यत्) जिस ब्रह्म को (श्रोत्रेण) श्रवण-साधन इन्द्रिय से (न, शृणोति) कोई नहीं सुनता, (येन) जिस ब्रह्म के सामर्थ्य से (इदम्, श्रोत्रम्) यह कर्णेन्द्रिय (श्रुतम्) श्रवण-शक्ति प्राप्त करता है, (तत्, एव) उस श्रवण-शक्ति को देने वाले को (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जान (यत्) जो (इदम्) यह श्रोत्र ग्राह्य शब्दादि विषय की (उपासते) सामान्य जन उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का यह अर्थ किया है–

"जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता और जिससे श्रोत्र सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर और उससे भिन्न शब्दादि की उपासना उसके स्थान में मत कर ॥" (सत्यार्थ० पृ० ३०९)

श्री शङ्कराचार्य जी ने इस श्रुति की व्याख्या में भी पूर्ववत् ही लिखा है–"येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्=यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेवेत्यादि पूर्ववत् ।" अर्थात् जिस चैतन्य आत्मज्योति से यह श्रोत्र अपने विषय को ग्रहण करता है, उसी को ब्रह्म जानो ॥

समीक्षा—इस शाङ्कर-भाष्य के दोष भी (१।६) के तुल्य ही समझने चाहिएं । क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय जीवात्मा के आधीन होकर विषय का ग्रहण करती है, और प्रकरण ब्रह्म का है अतः यही अर्थ करना सङ्गत है कि जिस ब्रह्म से श्रवण-शक्ति प्राप्त होती है अथवा श्रवण के आश्रयभूत आकाश में जो सामर्थ्य है, वह ब्रह्म-प्रदत्त है । ब्रह्म से भिन्न

चेतन जीवात्मा की सत्ता न मानने वाले शङ्कर स्वामी ने दुराग्रह वश ही श्रोता जीवात्मा व श्रवण-शक्ति को देने वाले ब्रह्म को एक मानकर प्रकरणविरुद्ध अर्थ किया है, इसे कौन विद्वान् स्वीकार कर सकता है ?

अब प्राणों का भी प्राण=प्राणन-शक्ति देने वाला ब्रह्म ही है, और वही उपासनीय है । यह कथन करते हैं-

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।८॥

***पदार्थ*—**(यत्) जो ब्रह्म (प्राणेन) प्राण से (न, प्राणिति) प्राण के समान चलायमान नहीं होता (येन) जिस ब्रह्म के द्वारा (प्राणः) प्राण (प्रणीयते) प्राणन क्रिया=अपना गमनात्मक कर्म करता है, (तत्, एव) उसी प्राणों के प्राण ब्रह्म को (त्वम्) तू (ब्रह्म) ब्रह्म (विद्धि) जान (यत्, इदम्) जो इस प्राण-वायु की मनुष्य (उपासते) उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है-

"जो प्राणों से चलायमान नहीं होता, जिससे प्राण गमन को प्राप्त होता है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर । जो यह उससे भिन्न वायु है, उसकी उपासना मत कर ।" (सत्यार्थ० पृ० ३०९)

***भावार्थ*—**"यद्वाचा" से लेकर 'यत्प्राणेन' इन पांच श्लोकों के द्वारा उपनिषत्कार ने एकमात्र ब्रह्म को ही उपासनीय देव बताया है, और उससे भिन्न मूर्त्त-पदार्थों की उपासना कर स्पष्टरूप से निषेध किया है। वह निराकार ब्रह्म वाणी, नेत्र, श्रोत्र, प्राण और मन से ग्रहण करने योग्य नहीं है । कोई मनुष्य यह इच्छा करे कि मैं वाणी से ब्रह्म की रट लगाकर, आंखों को मूर्ति आदि के रूप में विषय बनाकर, कानों से कीर्त्तनादि के रूप में सुन-सुनाकर, प्राणों के द्वारा अन्दर बिठाकर तथा मन से विचार कर ब्रह्म का उपासक बन जाऊंगा, यह उसकी धारणा मिथ्या ही है, क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियादि का विषय ही नहीं है । अतः जो वर्त्तमान समय में उच्चध्वनि से भजन, कीर्त्तनादि से ब्रह्म की भक्ति का एक ढोंग किया जा रहा है, वह सच्ची उपासना नहीं है । फिर उपासना क्या है ? यह वेदादिशास्त्रों से जानी जा सकती है, जिनमें स्पष्ट कहा है कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (योग०) चित्त की समस्त वृत्तियों को

बाह्य विषयों से रोककर **"आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश"** (यजु० ३२।११) **अपने आपको सर्वात्मभाव से परब्रह्म को समर्पण करना ही सच्ची उपासना होती है ।**

केनोपनिषद् में जीव-ब्रह्म की भिन्नता–

इस प्रथम-खण्ड के आठों श्लोकों में उपास्य-उपासक तथा ज्ञाता-ज्ञेय से जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस उपनिषद् में अन्यत्र भी इस विषय का प्रतिपादन प्रसङ्गवश हुआ है। जैसे–

१. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २।५)

अर्थात् इस मनुष्यजन्म में आकर जीवात्मा ने यदि उस परब्रह्म को जान लिया, तब तो उसकी सफलता है, अन्यथा विभिन्न योनियों के गमनागमन चक्र में ही फंसे रहने से महती हानि होती है ।

इससे स्पष्ट है कि जन्म-जन्मान्तरों में जाने वाला ब्रह्म नहीं है, वह ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा ही है । जो अपने ज्ञेय ब्रह्म को जानकर दुःखों से छूटता है । यह बद्ध व मुक्त होने वाला जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न है।

२. भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः,
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति । (केनोप० २।५)

अर्थात् ब्रह्म का ध्यान करने वाले ब्रह्म को सब प्राणियों तथा पञ्चमहाभूतों में व्यापक जानकर मरने के बाद मुक्त हो जाते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म सर्वव्यापक सत्ता का नाम है, किन्तु जीवात्मा परिच्छिन्न एकदेशी है । जीवात्मा ब्रह्म के स्वरूप को जानकर दुःखबन्धन से छूटकर मुक्त होते हैं, अन्यथा नहीं ।

३. यो वा एतामेवं वेद अपहत्य पाप्मानम् ।
अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥
(केन० ४।९)

अर्थात् जो विद्वान् इस ब्रह्म-विद्या को जानकर, पापों से बच जाता है, वह परब्रह्म के सान्निध्य से मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है ।

यहां भी स्पष्ट कहा है कि ज्ञाता जीव और ज्ञेय ब्रह्म है । पापों से बद्ध व मुक्त होने वाला जीवात्मा है, ब्रह्म नहीं । अतः ज्ञाता-ज्ञेय तथा

बद्ध-मुक्त के भेद से जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न ही है ।

इस प्रकार इस प्रथम खण्ड में निराकार इन्द्रियागोचर ब्रह्म के विषय में यह बताया गया है कि वह इन इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता प्रत्युत चक्षुरादि इन्द्रियां भी ब्रह्मप्रदत्त सामर्थ्य को ही प्राप्त कर कार्य कर रही हैं, अतः उस सर्वत्र व्यापक अनन्तादि गुण वाले ब्रह्म की इयत्ता मनादि से कदापि नहीं हो सकती । अतः मूर्त्त-पदार्थों की उपासना न करके एक ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए ।

इति केनोपनिषद्भाष्ये प्रथमः खण्डः ।।

अथ केनोपनिषदि द्वितीयः खण्डः

प्रथम खण्ड में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन प्रारम्भ किया है । गुरु ने शिष्य के प्रश्नानुरूप प्रथम खण्ड में आठ श्लोकों के द्वारा उत्तर दिया । अब प्रकारान्तर से ब्रह्म की सूक्ष्मता व गम्भीरता का उपदेश करते हैं–

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥२।१॥

***पदार्थ*—**हे शिष्य ! (यदि) जो (त्वम्) तुम (अस्य ब्रह्मणः) इस पूर्वोक्त ब्रह्म का (यत्) जो (रूपम्) स्वरूप है उसको (सुवेद) अच्छी प्रकार जानता हूं (इति) इस प्रकार (मन्यसे) मानते हो तो (नूनम्) निश्चय करके (त्वम्) तुम (दभ्रम् एव) अल्प ही (वेत्थ) जानते हो । (अथ) और (नु) निश्चय करके (यत्) जो (अस्य) इस ब्रह्म का स्वरूप (देवेषु) विद्वानों में (विदितम्) विद्याप्रकाश से जाना गया है । वह (ते) तेरे लिए (मीमांस्यम् एव) तर्क-वितर्क तथा युक्तियों से विचार करने योग्य ही है, (मन्ये) ऐसा मैं मानता हूं ।

***भावार्थ*—**इस मन्त्र में ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता का वर्णन किया गया है । अर्थात् ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म व सर्वत्र व्यापक है उसको 'इदन्ता' करके नहीं जाना जा सकता । अल्पज्ञ जीव का इतना सामर्थ्य नहीं है, कि वह ब्रह्म को पूर्णतः जानने में समर्थ हो सके । यदि कोई ब्रह्म को पूर्णतः जानने का घमण्ड करता है तो उसकी यह अहम्मन्यतामात्र ही है । गुरु शिष्य को अहङ्कार दोष से बचाने के लिए यह उपदेश कर रहे हैं ।

क्योंकि अहङ्कार ब्रह्मज्ञान में परम बाधक तथा पतन का कारण है । अतः यथाशक्ति जीवों को ब्रह्म की मीमांसा=तर्क वितर्कादि से खोज करते ही रहना चाहिए । मनुष्य ब्रह्म के विषय में जितना भी ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, वह अल्प ही रहेगा । अन्यत्र उपनिषदों में इसलिए कहा है–

स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता ॥ (श्वेताश्वतरो०)

वह ब्रह्म सारे विश्व को जानता है, परन्तु उसको पूर्णतः जानने वाला कोई नहीं है । और उस अनन्त ब्रह्म को जीव जान भी कैसे सकता है ? "पादो अस्य विश्वा भूतानि" (यजु० ३१।३) यह समस्त ब्रह्माण्ड तो ब्रह्म का एक भाग मात्र है । जब इसका भी हमें पूर्ण ज्ञान नहीं है तो ब्रह्म का कैसे सम्भव है । और सूर्य, अग्नि, वायु आदि दिव्य शक्ति-सम्पन्न देवों में व्याप्य-व्यापक भाव तथा नियाम्य-नियामक भाव से ब्रह्म की मीमांसा करनी चाहिए । अतः ब्रह्म का चिन्तन करते हुए अहङ्कार रहित होकर अपने ज्ञान को बढ़ाने में सतत विरत अवश्य रहना चाहिए।

आचार्य शङ्कर ने इस श्रुति की व्याख्या में लिखा है–

"सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः।"

"न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत् स्यात् ब्रह्म ।"

"तस्मात् सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव ।।"

"अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि न स्वतः ।।"

अर्थात् सब वेदान्तियों का यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि सभी जानने वालों का अपना आत्मा ही ब्रह्म है । ब्रह्म से भिन्न कोई ज्ञाता नहीं है, जिसके लिए ब्रह्म जानने योग्य है । इसलिए मैं ब्रह्म को भलीभांति जानता हूं, यह ज्ञान मिथ्या ही है । ब्रह्म के नाम, रूप तथा उपाधिकृत अनेक रूप हैं, स्वतः नहीं ।

समीक्षा–(क) आचार्य शङ्कर की यह मान्यता असत्य तथा वेदविरुद्ध है कि सभी का अपना आत्मा ब्रह्म है । इसलिए ब्रह्मज्ञान का विषय ही नहीं है । व्यासमुनि ने वेदान्तदर्शन में "भेदव्यपदेशाच्चान्यः।" "गुहां प्रविष्टावात्मनो हि दर्शनात् ।" इत्यादि सूत्रों के द्वारा जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है ।[१] वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं

१–और यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं होता, तो "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा ।" (वेदान्त०) इस सूत्र में ब्रह्म को जानने की इच्छा कैसे कही है ? अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म ज्ञान का विषय है ।

जिनमें जीव-ब्रह्म को पृथक्-पृथक् माना है । जैसे-

(क) न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ॥ (यजु० १७।३१)

अर्थ–जो तुम्हारे आत्मा में भी व्यापक है, उस सृष्टिकर्त्ता को तुम नहीं जानते ।

(ख) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(ऋ० १।१६४।२०)

अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों चेतन=सुपर्ण, व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त=सखा हैं । उनमें एक प्रकृतिरूपी वृक्ष के फलों को भोगता है, और दूसरा ब्रह्म न भोगता हुआ साक्षी मात्र रहता है ।

जीव-ब्रह्म की भिन्नता का उपनिषदों में बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है । जैसे–य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरम्०। (बृहदा०) आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । (कठोप०) शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । (मु०) तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः। (कठो०) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।। (कठो०) गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके ।" इत्यादि उपनिषदों के बहुत प्रमाण हैं, जिनसे स्पष्ट है कि ब्रह्म हमारी आत्मा में भी व्यापक है । ब्रह्म का आत्मा शरीर है। अतः ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा परम सूक्ष्म चेतन सत्ता है और जीवात्मा अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, अल्पशक्ति वाला चेतन है । दोनों एक कभी भी नहीं हो सकते ।

जीवात्मा ज्ञाता तथा ब्रह्म ज्ञेय है, जीवात्मा उपासक तथा ब्रह्म उपास्य है । यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय ही नहीं है, क्योंकि जीवात्मा स्वयं ब्रह्म है, तब तो समस्त वेदान्त-दर्शन ही मिथ्या है, जिसमें ब्रह्म की जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके ब्रह्म के सत्यस्वरूप का प्रतिपादन किया है और इस उपनिषद् में भी 'केनेषितं पतति' इत्यादि प्रश्न भी निरर्थक ही हो जाते हैं । और यदि सभी प्राणियों में एक ही ब्रह्म है, जीवात्मा की कोई सत्ता ही नहीं है तो इस मान्यता में अनेक दोष हैं–ब्रह्म को जन्म-मरण के चक्र में आने की क्या आवश्यकता थी ? एक ही ब्रह्म होने से दूसरे की देखी सुनी बात को दूसरा क्यों नहीं जानता ? पाप-पुण्य के कर्मों के फलभोग की व्यवस्था कभी न बन सकेगी । अद्वैतवाद की

मान्यता से पापों की वृद्धि और पुण्यों की न्यूनता होती है । इन्होंने अपने आपको ब्रह्म मानकर किसी भी पुण्य कार्य में प्रवृत्त न होकर अकर्मण्यता को बढ़ाया है । लौकिक-मनुष्यों को कर्त्तव्य से विमुख करके अधोगति की तरफ ले जाया गया है ।

(ख) ब्रह्म के उपाधिकृत अनेक रूपों की मान्यता भी अद्वैतवाद की मिथ्या है । इनके मत में सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरण में आकर जीव होता है । क्या जीव-दशा में ब्रह्म में सर्वज्ञादिगुण होते हैं ? यह सर्वजन विदित है कि हम सब अल्पज्ञ हैं तो ब्रह्म को भी उस दशा में अल्पज्ञ माना जाए ? यदि कहो कि अन्तःकरण के आवरण से ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं रहता तो क्या अखण्डित ब्रह्म खण्डित हो जाता है ? और आवरण में आया ब्रह्म अपवित्र, अज्ञानी व पापबद्ध हो जाता है ? अतः अद्वैतवाद की यह मान्यता वेद व युक्ति से विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती । क्योंकि वेद में ब्रह्म के स्वरूप के विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ॥

(य० ४०।८)

अर्थात् वह परब्रह्म सर्वत्र व्यापक सर्वशक्तिमान्, सब प्रकार के शरीरों से रहित, अव्रणम्=छिद्र रहित होने से अखण्डित व निरवयव, अस्नाविरम्=स्नायु आदि आवरणों के बन्धन में न आने वाला, शुद्धम्=राग, द्वेषादि से रहित होने से सदा पवित्र, अपापविद्धम्=पापाचरण से सदा मुक्त है ।

इस प्रकार ब्रह्म का जो स्वरूप है, वह सदा एक सा ही रहता है, उसके कभी भी विविध रूप नहीं होते । श्री शङ्कराचार्य जी की मान्यता वेदादिशास्त्रों से विरुद्ध, उपनिषद्-विरुद्ध, वेदान्त-विरुद्ध तथा युक्ति-विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है ।

अब ब्रह्म के जानने में हेतु कथन करता है-

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद् वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च ॥२।२॥

***पदार्थ*—**(अहम्) मैं (सुवेद) ब्रह्म को अच्छी प्रकार जानता हूं (इति) इस प्रकार (न मन्ये) नहीं मानता और (न वेद) ब्रह्म को नहीं

जानता (इति) ऐसा भी (नो) नहीं मानता, (वेद च) और ब्रह्म है, यह जानता हूं । (नः) हम में से (यः) जो (तत्) उक्त वचन को (वेद) जानता है, वह (तत्) उस ब्रह्म को (वेद) जानता है । (न वेदेति) ब्रह्म को नहीं जानता ऐसा भी (नो वेद) नहीं जानता मानता हूं ।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्मज्ञानी की विशेषता बताते हुए कहा है कि—ब्रह्म को जानने वाला यह कदापि नहीं मानता कि मैं ब्रह्म को पूर्णरूप से जानता हूं क्योंकि ब्रह्म अनन्त है । और न यह कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता । क्योंकि उसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा होने से अयथार्थ भाषण कैसे कर सकता है । जो ऐसा जानता है, वह ब्रह्म का ज्ञाता है और जो इससे विपरीत आचरण करता है, वह ब्रह्म को नहीं जानता । क्योंकि ईश्वर विषयक—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

(मैत्रायण्युप० ४।४)

अर्थात् ब्रह्म को जानने से जो सुख होता है, उसे वाणी से नहीं कहा जा सकता, उसे तो अन्तःकरण से अनुभव किया जाता है ।

श्री शङ्कराचार्य जी ने इस गाम्भीर्य को न समझ कर लिखा है—

"एकं वस्तु येन ज्ञायते तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा ।.....एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल ।"

अर्थात् जिसने एक वस्तु को जान लिया है, उसने उसको नहीं जाना है, यह परस्पर विरुद्ध है, संशय-विपर्यय को छोड़कर । और इत्यादि बातों से आचार्य ने शिष्य को विचलित करना चाहा, किन्तु वह विचलित नहीं हुआ ।

समीक्षा—इस श्रुति की व्याख्या से स्पष्ट है कि इसमें आचार्य का कोई वचन ही नहीं है । आचार्य ने शिष्य को इससे पहली श्रुति में जो कुछ कहा था, शिष्य ने इसमें उसका उत्तर दिया है । और उपर्युक्त व्याख्या से यह भी स्पष्ट है कि इसमें कोई भी बात परस्पर विरुद्ध नहीं है । जो ऐसा समझता है, वह उसकी भ्रान्ति ही है । यहां संशय तथा विपर्यय=मिथ्याज्ञान की कोई बात ही नहीं कही है, फिर उसे संशयादि से युक्त कहना उचित नहीं है । यह हमारी व्याख्या से ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है ।

पूर्वोक्त ब्रह्म का ही प्रकारान्तर से सूक्ष्म दृष्टि से वर्णन करते हैं–

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥२।३॥

***पदार्थ*—**(यस्य) जिस विद्वान् का (अमतम्) ब्रह्म को नहीं जानता ऐसा मत है, (तस्य) उसको (मतम्) ब्रह्म का ज्ञान है । (क्योंकि मन के द्वारा होनेवाला ज्ञान भी चक्षु आदि इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के समान ही है) (यस्य) जिस विद्वान् को यह गर्व है कि (मतम्) मैं ब्रह्म को जानता हूं (सः न वेद) वह ब्रह्म को नहीं जानता है । इसीलिए (विजानताम्) ब्रह्म का विशेष ज्ञान कहने वालों को (अविज्ञातम्) ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता और (अविजानताम्) जो ब्रह्मज्ञान का अहङ्कार नहीं करते, उनको (विज्ञातम्) ब्रह्म का विशेष ज्ञान है ।

***भावार्थ*—**इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि जो अपने को ब्रह्म का ज्ञानी मानते हैं, वे ब्रह्म को नहीं जान सकते । क्योंकि ब्रह्म को जानने वाला यह कदापि कहेगा ही नहीं कि मैं ब्रह्म को जानता हूं । यथार्थ में साधारण व्यक्ति ब्रह्मज्ञानी की परीक्षा नहीं कर सकते । विरले योगी पण्डित गुरुदत्त को भी निरुत्तर होना पड़ा था। परन्तु ब्रह्म की सत्ता मानने में ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता । और इस मन्त्र का दूसरा भाव यह भी है कि ब्रह्म की अनुभूति तथा पूर्णज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक यथार्थज्ञान के द्वारा योगाभ्यासादि नहीं करता । जो शाब्दिक ज्ञान ही रखते हैं, ब्रह्म-प्राप्ति के दूसरे साधनों का अनुष्ठान नहीं करते, वे भी ब्रह्म के ज्ञाता नहीं हैं । ब्रह्म को जानने के लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन तीनों साधनों की परमावश्यकता होती है । महर्षि दयानन्द ने इस रहस्य को एक वेद-मन्त्र में स्पष्ट किया है कि केवल ब्रह्म की सत्ता मानने वाला ब्रह्म को क्यों नहीं जानता ?

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

(यजु० १७।३१)

"जो परमात्मा इन सब भुवनों का बनाने वाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग नहीं जानते । इसी हेतु से तुम (नीहारेण) अत्यन्त अविद्या से आवृत, मिथ्यावाद नास्तिकता की बकवाद करते हो ।......तुम

लोग (असुतृप:) केवल स्वार्थसाधक प्राणपोषणमात्र में ही प्रवृत्त हो रहे हो । (उक्थशासश्चरन्ति) केवल विषयभोगों के लिए ही अवैदिक कर्म करने में प्रवृत्त हो रहे हो । और जिसने सब भुवन रचे हैं, उस सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, परब्रह्म से उलटे चलते हो । अतएव उसको तुम नहीं जानते" ।। (आर्याभिविनय:)

इससे स्पष्ट है कि ईश्वर के जानने में मनुष्य क्यों असमर्थ रहते हैं और ईश्वर को मानने तथा जानने में क्या अन्तर है ।

ब्रह्मज्ञानी की विलक्षणता बताकर ब्रह्मज्ञान का फल कथन करते हैं—

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।।२।४।।

पदार्थ—(प्रतिबोधविदितम्) प्रतिबोध से जाना गया ब्रह्म (मतम्) यथार्थज्ञान है । इस ब्रह्मज्ञान से मुमुक्षु पुरुष (हि) निश्चय से (अमृतत्वम्) मृत्युरहित जीवन्मुक्त दशा को (विन्दते) प्राप्त होता है । (आत्मना) आत्मस्वरूपज्ञान से (वीर्यम्) योगबल=अणिमादि सिद्धियों को (विन्दते) प्राप्त होता है, और (विद्यया) ब्रह्मज्ञान से (अमृतम्) जन्म-मरणादि दु:खरहित मोक्ष को (विन्दते) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में 'प्रतिबोध' शब्द विशेष अर्थ को बताने वाला है । इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण कर रूपादि विषय के स्वरूप को धारण करने वाली बुद्धि को 'बोध' कहते हैं । और इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से निरोध करके अन्त:करण में धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम से जो ज्ञान की तरंग उत्पन्न होती हैं, उनका ग्रहण करना 'प्रतिबोध'[१] कहाता है और आत्मा के स्वरूप-ज्ञान से योगबल को प्राप्त करना इसलिए आवश्यक है कि उसके विना परमात्मा को नहीं जाना जा सकता । जैसा कि अन्यत्र कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' इत्यादि प्रमाण से स्पष्ट है कि योगबल से रहित व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता ।

श्री शङ्कराचार्य जी ने यहां 'प्रतिबोध' शब्द से अपने आप को ब्रह्म

१—'प्रतिबोध' का दूसरा अर्थ यह भी है—वाक्यजन्य ज्ञान को बोध कहते हैं । और निदिध्यासन से ब्रह्म के गुणों को धारण करके जो उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, उसे 'प्रतिबोध' कहते हैं ।

मानना अर्थ करते हुए लिखा है—"बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते । सर्वे प्रत्यया विषयी भवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान् प्रतिबुध्यते, सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते, नान्यद् द्वारमात्मनो विज्ञानाय ।" अर्थात् 'बोध' शब्द बौद्धिक ज्ञान को बताता है । और जब सब ज्ञान हो जाते हैं, वह आत्मा प्रतिबोध विदित होकर ब्रह्म को जानकर ब्रह्म-रूप हो जाता है ।

समीक्षा—अपने आप को ब्रह्म समझना, यह भी एकमत है । पूर्वश्लोक में कहा है कि जिसका यह मत है, वह ब्रह्म को नहीं जानता। अतः शङ्कर-स्वामी का अर्थ सङ्गत नहीं है । और इसी श्लोक में कहा है कि 'अमृतत्वं हि विन्दते' 'वीर्यं विन्दते' इत्यादि । यदि वह स्वयं ब्रह्म ही है तो 'अमृतत्व प्राप्ति' और वीर्य=बल की प्राप्ति कौन किससे करता है । प्राप्ति अप्राप्त की की जाती है । अतः 'प्रतिबोध' शब्द का अर्थ अपने को ब्रह्म समझना' कदापि सङ्गत नहीं हो सकता ।

और यहां यह भी कहा है कि—'आत्मना विन्दते वीर्यम्' आत्मज्ञान से बल प्राप्त करता है । और उस बल से ब्रह्म के पद (मोक्ष) को प्राप्त किया जाता है । क्योंकि अन्यत्र कहा गया है कि—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।" इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्या से आत्मिक बल प्राप्त होता है और तत्पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता है । इस क्रम का उल्लङ्घन करके 'प्रतिबोध' शब्द का यह अर्थ करना 'ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो गया' नितान्त ही अविवेकपूर्ण तथा कल्पित है ।

मानव-जीवन का परम-लक्ष्य ब्रह्म-ज्ञान बताते हुए कहते हैं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य[1] धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२।५॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (इह) इस मानव-जीवन में (अवेदीत्) ब्रह्म को जान लिया (अथ) तब तो (सत्यम् अस्ति) मनुष्य-जन्म सार्थक है (चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (न, अवेदीत्) ब्रह्म को नहीं जाना तो (महती विनष्टिः) बहुत बड़ी हानि है अर्थात् निरन्तर विभिन्न पशु-पक्षियों की योनियों के चक्र में घूमते रहने से उत्तम सुख का विनाश है। इसलिए (धीराः) ध्यानशील योगी पुरुष (भूतेषु-भूतेषु) सब चराचर

१—'विचित्य' इति शाङ्करभाष्ये पाठभेदः ।

जगत् में (विचिन्त्य) ब्रह्म का विवेचन करके तथा उसका साक्षात्कार करके (अस्मात् लोकात्) इस प्रत्यक्ष संसार से (प्रेत्य) देह-त्याग करके (अमृता:) मृत्यु आदि दु:खों से मुक्त (भवन्ति) हो जाते हैं ।

भावार्थ—मानव-जीवन का परम लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति । यदि इस उत्तम योनि को प्राप्त करके ब्रह्म को नहीं जाना, और सांसारिक भोग भोगकर ही यह जीवन बिता दिया तो दूसरी पशु-पक्षियों की योनियों तथा मानव-योनि में क्या अन्तर हुआ ? अत: मनुष्यों का यह परम कर्त्तव्य है कि उस ब्रह्म की शक्ति को संसार की प्रत्येक वस्तु में निहित जानकर ब्रह्म-विषयक ज्ञान को प्राप्त करें और दु:खपाश से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करने का अनवरत प्रयत्न करते रहें ।

इस मन्त्र में 'अवेदीत्' प्रयोग छन्दोवत् मानकर सार्वकालिक है, भूतकालिक नहीं । जैसे वेदों में 'छन्दसि लुङ्लङ्लिट:' (अ० ३।४।६) इस व्याकरण नियम से लुङादि लकार सामान्यकाल में प्रयुक्त हैं, वैसे ही यहां उपनिषद् में भी समझना चाहिए ।

आचार्य शङ्कर ने यहां लिखा है—

अमृता भवन्ति=ब्रह्मैव भवन्ति । अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं ।

समीक्षा—'अमृत' शब्द का अर्थ मृत्यु आदि दु:खों से रहित होना है, ब्रह्म होना नहीं । अत: शाङ्कर-भाष्य का अर्थ स्वयं कल्पित है। और यदि ब्रह्मस्थ पद (मोक्ष) को 'ब्रह्म' तात्स्थ्योपाधि से मान भी लिया जावे तो भी अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती । क्योंकि इनके मत में मोक्ष में जीव-ब्रह्म एक हो जाते हैं । जब जीव का पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता तो मोक्ष के सुख का कौन भोग करता है ? और उपनिषदों में जो मोक्ष की दशा में मुक्त जीवों का वर्णन किया है, वह सब मिथ्या ही हो जायेगा । जैसे—

(क) यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्व: कामयते यांश्च कामान् । (मुण्डक०)

अर्थात् मुक्त जीव मोक्ष में स्वेच्छा से विचरण करते हैं और स्वाभीष्ट कामनाओं को प्राप्त करते हैं ।

(ख) ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।। (मुण्डक०)

अर्थात् मुक्तजीव मोक्ष में परान्तकाल=मोक्ष की पूर्णावधि होने के

बाद मोक्ष से वापस संसार में आ जाते हैं ।

इत्यादि वर्णनों से स्पष्ट है कि मोक्ष में जीवों का ब्रह्म में लय कदापि नहीं होता । वे पृथक् रहकर ही मोक्षानन्द को भोगते हैं । अतः अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक आचार्य शङ्कर की व्याख्या कल्पित ही है ।

प्रथम-खण्ड में ब्रह्मज्ञान में इन्द्रियों की अनुपयोगिता और ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए, यह वर्णन किया । द्वितीय-खण्ड में ब्रह्मज्ञान की विलक्षणता तथा दुर्विज्ञेयता, ब्रह्मज्ञान का फल और मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य ब्रह्म को जानना इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

इति केनोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः खण्डः ।।

अथ केनोपनिषदि तृतीयः खण्डः

इस उपनिषत् के प्रथम खण्ड में एक परब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट होने से उपासनीय है, यह कथन किया । द्वितीय खण्ड में ब्रह्मज्ञान की विलक्षणता ब्रह्मज्ञान का फल तथा मानव-जीवन के परम लक्ष्य का वर्णन किया गया है । अब इस तृतीय-खण्ड में **अग्न्यादि भौतिक पदार्थों से ब्रह्म की उत्कृष्टता** का वर्णन करने के लिए एक आलङ्कारिक आख्यायिका के द्वारा ब्रह्म के विजय का वर्णन करते हैं–

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकम् एवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ।।३।१

***पदार्थ*—**(ब्रह्म) सब से महान् परमेश्वर ने (ह) निश्चय करके (देवेभ्यः) अग्नि आदि देवताओं से (विजिग्ये) विजय प्राप्त किया । (ह तस्य ब्रह्मणः) निश्चय से उस ब्रह्म की (विजये) जीत होने पर (देवाः) अग्नि आदि देवता (अमहीयन्त) महत्त्व को प्राप्त हो गए अर्थात् अपने को बड़ा मानने लगे । (ते) उन देवों ने (ऐक्षन्त) जान लिया कि (अयम् विजयः) यह विजय (अस्माकम् एव) हमारी ही है। (अयम् महिमा) यह महिमा (अस्माकम् एव) हमारी ही है ।

***भावार्थ*—**यहां ब्रह्म और अग्न्यादि देवों की इस आख्यायिका को चार्वाकादि नास्तिक मतों के खण्डन करने के लिए बनाया है । अग्नि, वायु आदि देवों में जो भी सामर्थ्य है, वह ब्रह्म-द्वारा प्रदत्त है ।

उसके सामर्थ्य के बिना अग्नि जला नहीं सकता, और वायु गति नहीं कर सकता । जैसा कि अन्यत्र कहा है–

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(कठो० ५।१५)

अर्थात् उस परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं। अतः अग्नि आदि अचेतन देवों को ही सब कुछ मानकर परब्रह्म को न मानने वालों के लिए इस आख्यायिका से उपदेश दिया गया है कि वह ब्रह्म सर्वोपरि तथा सर्वशक्तिमान् है । प्रकृति को ही सब कुछ मानने वाले अविद्याग्रस्त तथा भ्रान्त हैं ।

आचार्य शङ्कर ने इस आख्यायिका के विषय में लिखा है–

"तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते । तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृदेवानामपि परो देवः, ईश्वराणामपीश्वरो, दुर्विज्ञेयो देवानां जयहेतुः, असुराणां पराजयहेतुः। ......अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये ।......अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत् प्रदर्श्यते। ......वक्ष्यमाणोपनिषद् विधिपरं वा सर्वम् । ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्त्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येत्येतद्दर्शनार्थं व्याख्यायिका ।"

अर्थात् मन्दबुद्धि लोगों को ऐसी भ्रान्ति न हो कि ब्रह्म विज्ञात न होने से शशविषाण की भांति है ही नहीं, इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए यह आख्यायिका है । क्योंकि वही ब्रह्म सर्वथा प्रशासक, देवों में भी बड़ा देव, ईश्वरों में भी ईश्वर, दुर्विज्ञेय तथा देवों के जय का और असुरों के पराजय का हेतु है । अथवा ब्रह्म-विद्या की स्तुति के लिए, अथवा ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता प्रदर्शन करने के लिए, अथवा ब्रह्मज्ञान से भिन्न प्राणियों को जो कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व का मिथ्या अभिमान है, उसको दूर करने के लिए यह आख्यायिका है ।

समीक्षा—यह आख्यायिका ब्रह्मविद्या को समझाने के लिए एक आलङ्कारिक वर्णन है । इससे ब्रह्म-विद्या की महिमा व ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता का बोध होता है, और अहङ्कार का उन्मूलन भी होता है । किन्तु प्राणियों का मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं इत्यादि अभिमान मिथ्या है, यह आचार्य शङ्कर का कथन सत्य नहीं है । यह केवल स्वाभिमत को बलात् दिखाने के लिए लिखा गया है । क्योंकि उनके मत में जीवात्मा की सत्ता ही नहीं है । यद्यपि 'द्वा सुपर्णा०' (मु०) मन्त्र की व्याख्या में

शङ्करस्वामी ने आत्मा व ईश्वर को भिन्न-भिन्न मानकर जीवात्मा को कर्मफल का भोक्ता और ईश्वर को सर्वज्ञ तथा साक्षीमात्र माना है । पुनरपि यहां जीवात्मा के कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व को मिथ्या दिखा रहे हैं। इस आख्यायिका में कहीं भी जीव के कर्त्तृत्वादि का निषेध भी नहीं किया गया है । अतः यह एक मिथ्या कल्पना ही है ।

उपर्युक्त आख्यायिका के स्पष्टीकरण से भी आचार्य शङ्कर को सन्तोष नहीं हुआ और इसमें पौराणिक-कल्पना का भी मिश्रण कर बैठे। इस खण्ड के अन्त में लिखते हैं–"अथवैवमेव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्त्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुपाजगाम।" अर्थात् हिमालय की पुत्री उमा, जो सदा सर्वज्ञ ईश्वर के साथ रहती है, और ईश्वर को जानने में समर्थ है, वह इन्द्र उसके समीप में आया ।

अद्वैतवाद को मानने वालों से यहां प्रश्न किए जाते हैं कि यह उमा=हिमालय की पुत्री ईश्वर के साथ रहने वाली कौन है ? क्या इसे मानकर तुम्हारा अद्वैतवाद द्वैतवाद में नहीं बदलता ? क्या जड़ हिमालय की पुत्री का होना सम्भव है । और इस आख्यायिका से इसकी क्या सङ्गति है? उमा हैमवती आदि शब्दों के सत्य अर्थ यथास्थान द्रष्टव्य हैं।

अग्नि आदि देवों के अहङ्कार को खण्डित करने के लिए ब्रह्म यक्षरूप में प्रकट हुए, यह यहां कथन किया गया है–

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव ।
तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥३।२॥

पदार्थ—(तत्) उस ब्रह्म ने (ह) निश्चय करके (एषाम्) अग्नि आदि देवों की चेष्टा को (विजज्ञौ) सर्वज्ञभाव से जान लिया । (तेभ्यः) और उनके (अहङ्कार या मिथ्या ज्ञान को समाप्त करने के लिए) (ह) निश्चय से (प्रादुर्बभूव) ब्रह्म प्रकट हुए । वे देव (तत्) उस ब्रह्म को (न व्यजानन्त) नहीं जान सके कि (इदम् यक्षम्) यह अप्रतिम तेजयुक्त यक्ष (किम् इति) कौन है ।

भावार्थ—यहां ब्रह्म का यक्ष रूप में प्रकट होना और अग्नि आदि देवों का उसे न जानना, एक आलङ्कारिक वर्णन है यथार्थ नहीं । ब्रह्म एक सर्वव्यापक चेतन सत्ता है, उसे अग्नि आदि जड़ देवता कदापि जान भी नहीं सकते । जैसे मुण्डकोपनिषद् में परमात्मा के मुख, नेत्रादि

का आलङ्कारिक वर्णन किया गया है, वैसा ही यहां भी समझना चाहिए।

इस आख्यायिका का एक भाव यह भी है कि शरीर में भी पञ्चभूत कार्य कर रहे हैं । जब जीव परब्रह्म की उपासना से अद्भुत तेज व सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, तब अग्नि आदि के कार्य नेत्रादि इन्द्रियों में ऐसा गर्व पैदा हो जाता है कि यह तेज व शक्ति हमारी ही है । उस अहङ्कार को दूर करने के लिए भी इस आख्यायिका को बनाया है ।

ब्रह्म के निराकार होने से उसका शरीरधारी होकर संवाद करना कदापि सम्भव नहीं है, पुनरपि यहां आख्यायिका के रूप में ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान कराने के लिए वर्णन किया गया है । क्योंकि आख्यायिका के द्वारा कठिन विषय भी सरल व सुगम हो जाता है ।

आलङ्कारिक आख्यायिका का स्पष्टीकरण–

यह समस्त संसार प्रकृति का विकार है । यह स्वयं न तो बन सकता और नहीं बिगड़ सकता है । इस का रचयिता तथा प्रलय करने वाला परब्रह्म है । अतः अग्नि आदि देवों में ब्रह्म का विजय=महत्त्व अधिक है । परन्तु परब्रह्म इन्द्रियागोचर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा सर्वत्र व्यापक सत्ता है, उसका जानना सरल न होने से अनात्मज्ञानी भौतिक अग्नि आदि जड़ देवों को ही उत्कृष्ट मानकर परब्रह्म को मानने से इन्कार कर देते हैं । ऐसे अनात्मवादी नास्तिक पुरुषों को समझाने के लिए उपनिषत्कार ने यह आलङ्कारिक गाथारूप में वर्णन किया है ।

अग्नि आदि देवों के सम्मुख ब्रह्म तेजस्वी यक्षरूप में प्रकट हुआ देवता उसे न जान सके । सब देवों ने मिलकर अग्नि देव को यक्ष को जानने के लिए भेजा कि तुम प्रकाशमान होने से यक्ष को जान सकते हो। अग्नि यक्ष के पास गया और यक्ष के पूछने पर सगर्व उत्तर दिया कि मैं सब को जलाने का सामर्थ्य रखने वाला अग्नि और प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान होने से 'जातवेदाः' हूं । किन्तु यक्ष के तिनके को भी जला न सका और निराश होकर वापस आ गया । तदनन्तर देवों ने वायु से प्रार्थना की कि तुम बहुत बलवान् व वेगवान् हो, तुम ही पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है । किन्तु यक्ष के पास जाकर वायु भी शक्तिहीन ही रहा और छोटे से तिनके को भी उड़ा न सका । वायु भी निराश होकर वापस आ गया ।

यहां अग्नि और वायु को भेजने का आशय यही है कि संसार में दो ही प्रमुख शक्तियां हैं—एक प्रकाश और दूसरी गति । इनके आश्रय से प्रत्येक वस्तु को पाया जा सकता है । किन्तु परब्रह्म को प्राप्त करने में ये दोनों शक्तियां भी तुच्छ व असमर्थ हैं । अग्नि भौतिक पदार्थों में व्यापक होकर भी विना व्यक्तरूप में आए तिनके को भी नहीं जला सकता । इसी प्रकार वायु भी व्यक्तावस्था में आकर ही तृण को उड़ा सकता है, अन्यथा नहीं । और अव्यक्त से व्यक्तावस्था में अग्नि आदि को परब्रह्म ही करता है । जो भी इनमें सामर्थ्य है, वह परब्रह्म से प्रदत्त है । अतः ब्रह्म की महिमा अपार तथा विलक्षण है ।

पुनः देवों ने इन्द्र=जीवात्मा को यक्ष के पास भेजा । यक्ष इन्द्र को देखकर अन्तर्धान हो गया । इस में एक रहस्य है कि यक्ष अग्नि तथा वायु को देखकर नहीं छिपा, पुनः इन्द्र को देखकर क्यों छिपा ? अग्नि व वायु जड़ होने से जानने में असमर्थ थे, किन्तु इन्द्र=जीवात्मा चेतन और ज्ञान-गुण वाला होता हुआ भी संसार के कला-कौशलों को बनाकर गर्व से पूर्ण था । ब्रह्म के छिपने का भाव यही है कि अहङ्कार युक्त जीवात्मा भी ब्रह्म को नहीं जान सकता । जब वह योग-साधनादि से दिव्य विभूति सम्पन्न हो जाता है और उमा=ब्रह्मविद्या से दिव्य प्रज्ञा को प्राप्त कर लेता है, तब यक्षरूप ब्रह्म को जानने में समर्थ हो जाता है ।

उस यक्षरूप ब्रह्म को जानने के लिए देवों का अग्नि को यक्ष के पास जाने का कथन करते हैं—

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति॥

(केनो० ३।३)

पदार्थ—(ते) वे सब देव (अग्निम्) अग्निदेव से (अब्रुवन्) कहने लगे कि (जातवेदः) हे उत्पन्नमात्र वस्तुओं में विद्यमान अग्नि देव ! (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष (किमिति) कौन है, (एतत्) इस रहस्य को (विजानीहि) तुम जानो । अग्नि ने उत्तर दिया (तथा, इति) वैसा ही करता हूं ।

भावार्थ—यक्ष के तेजस्वी स्वरूप को देखकर सभी देव विस्मित थे । अतः उन्होंने देवों में तेजस्वी अग्नि को ही सर्वप्रथम यक्ष के पास भेजा । 'अग्नि' का अर्थ भी 'अग्रणीः' है जो सब को आगे ले जाए । लोक में भी जो अग्रणी होता है, उसे ही मुखिया बनाकर भेजते हैं । वैसे

अग्नि ने अग्रणी बनकर यक्ष के पास जाने की स्वीकृति दी ।

उपचाररूप से अग्निदेव यक्ष के पास जाता है–

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति ।
अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥३।४॥

***पदार्थ*—**वह अग्निदेव (तत्) उस यक्ष के (अभ्यद्रवत्) सम्मुख गया । (तम्) उस अग्निदेव से, (अभ्यवदत्) यक्ष ने कहा–(कः, असि, इति) तुम कौन हो ? इस प्रकार । (वै) निश्चय से (अग्निः) अग्निदेव (अब्रवीत्) कहने लगे कि (अहम्) मैं (अग्निः अस्मि, इति) अग्नि हूं (वै) निश्चय से (अहम्) मैं (जातवेदाः) उत्पन्नमात्र पदार्थों में विद्यमान जातवेदा हूं ।

***भावार्थ*—**यहां यक्ष और अग्नि का प्रश्नोत्तर रूप से संवाद दिखाया गया है । अग्नि ने अभिमान सहित उत्तर दिया कि मैं प्रकाश करने वाला अग्नि हूं । और प्रत्येक पदार्थ में जो रूप दिखाई देता है, वह मेरा ही है, अतः मेरा नाम 'जातवेदाः' भी है ।

यक्ष ने अग्नि से प्रश्न किया–

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥३।५॥

***पदार्थ*—**(तस्मिन् त्वयि) उस पूर्वोक्तगुणविशिष्ट तुझ अग्नि में (किम्, वीर्यम्, इति) क्या पराक्रम अथवा सामर्थ्य है ? अग्नि ने उत्तर दिया कि (यत् इदम्) यह जो कुछ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर है (अपि) निश्चय करके (इदम्, सर्वम्) इस सब को (दहेयम् इति) जला सकता हूँ ।

***भावार्थ*—**अग्नि के साभिमान वचनों को सुनकर उसकी यक्ष ने परीक्षा के लिए उसके सामर्थ्य के विषय में पूछा । अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं सभी पार्थिव वस्तुओं को जला सकता हूं ।

यक्ष अग्निदेव के सामर्थ्य की परीक्षा करते हैं–

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुम् । स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्ष-मिति ॥३।६॥

***पदार्थ*—**यक्ष ने (तस्मै) उस अग्निदेव के लिए (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) धर दिया और (एतत्) इस तिनके को (दह, इति)

जला दे, ऐसा कहा । अग्नि (तत्) उस तिनके के (सर्वजवेन, उपप्रेयाय) पूरे वेग से समीप गया, परन्तु (तत्) उसको (दग्धुम्) जलाने को (न, शशाक)समर्थ न हो सका । (ततः, एव) उसके बाद ही (सः) वह अग्निदेव (निववृते) वापस आ गए और दूसरे देवों से कहने लगे (यत्) जो (एतत्) यह (यक्षम्, इति) यक्ष है (एतत्) इसको (विज्ञातुम्) जानने को (न, अशकम्) मैं समर्थ नहीं हुआ ।

***भावार्थ*—**यक्ष ने अग्नि के अहङ्कार का मर्दन करने के लिए अग्नि के सम्मुख एक छोटा सा तिनका रक्खा, किन्तु अग्नि अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनके को न जला सका और निराश होकर वापस आ गया और देवों से आकर कहने लगा कि मैं इस यक्ष को नहीं जान सका ।

अब देवता यक्ष को जानने के लिए वायु को भेजते हैं-

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ॥३।७॥

***पदार्थ*—**(अथ) अग्नि के सामर्थ्य जानने के बाद सब देव (वायुम्) वायु-देव से (अब्रुवन्) कहने लगे कि (वायो) हे वायु-देवता! (एतत्) इसको (विजानीहि) विशेषकर जानिए कि (एतत्) यह (यक्षम्) पूजनीय यक्ष (किमिति) कौन है ? वायु ने कहा (तथा इति) वैसे ही करता हूं ।

वायु का यक्ष के पास जाना और उसका संवाद कथन करते हैं-

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति । वायुर्वा अहमस्मीत्य-ब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥३।८॥

***पदार्थ*—**वायु देवता (तत्) उस यक्ष के (अभ्यद्रवत्) सम्मुख गया, और यक्ष (तम्) उस वायु से (अभ्यवदत्) कहने लगे कि (कः, असि, इति) तुम कौन हो ? वायु (अब्रवीत्) बोला कि (वै) निश्चय से (अहम्) मैं (वायुः, अस्मि, इति) वायु हूं । (वै) निश्चय से (अहम्) मैं वायु (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में विचरने वाला 'मातरिश्वा' नामक (अस्मि, इति) हूं ।

***भावार्थ*—**वायु को 'मातरिश्वा' इसलिए कहते हैं कि-

"मातरिश्वा वायुः, मातरि=अन्तरिक्षे श्वसिति, मातर्यश्वनितीति

वा ॥" (निरुक्त० ७।२६)

अर्थात् अन्तरिक्ष में शीघ्र गमन करने के कारण वायु को 'मातरिश्वा' कहते हैं ।

यक्ष ने वायु-देव से पूछा—

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥३।९॥

पदार्थ—(तस्मिन्, त्वयि) पूर्वोक्त गुणों वाले तुझ वायु में (किम्) क्या (वीर्यम्) पराक्रम या सामर्थ्य है ? वायु-देव ने कहा कि (यत्, इदम्) यह जो कुछ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर है, (अपि) निश्चय से (इदम्, सर्वम्) इन सब को (आददीयम्) ग्रहण कर लूं, उठा ले जाऊं, अथवा उड़ा दूं । इस प्रकार का सामर्थ्य मुझ में है ।

यक्ष वायु-देव के सामर्थ्य की परीक्षा करते हैं—

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्ष-मिति ॥३।१०॥

पदार्थ—यक्ष ने (तस्मै) उस वायु के लिए (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) धर दिया और कहा (एतत्) इसको (आदत्स्व) उठा ले वा उड़ा दे । वायु (सर्वजवेन) सम्पूर्ण वेग से (तत्) उस तिनके के (उपप्रेयाय) समीप प्राप्त हुआ तो भी (तत्) उस तिनके को (आदातुम्) ग्रहण करने वा उड़ाने को (न शशाक) समर्थ न हुआ । (सः) वह वायु-देव (ततः, एव) उसी समय वहां से (निववृते) लौट आया और लौटकर दूसरे देवों से बोला कि (यत्) जो (एतत्) यह (यक्षमिति) तेजस्वी यक्ष है (एतत्) इसको (विज्ञातुम्) जानने के लिए (न, अशकम्) मैं समर्थ नहीं हुआ ।

भावार्थ—वायु के सम्मुख यक्ष ने एक तिनका रखकर कहा कि इसको उड़ा । वायु ने अपने सम्पूर्ण वेग से तिनके को उड़ाने का यत्न किया, परन्तु तिनके को उड़ा न सका । तब वायु लज्जित होकर वापस आकर देवों से कहने लगा कि मैं यक्ष को जानने में असमर्थ हूं ।

यक्ष को जानने में असमर्थ वायु के बाद देवता इन्द्र को यक्ष के पास भेजते हैं—

अथेन्द्रमब्रुवन्–मघवन् ! एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति, तथेति तदभ्यद्रवत्, तस्मात् तिरोदधे ॥३।११॥

पदार्थ—(अथ) इसके बाद सब देवता (इन्द्रम्) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा देव से (अब्रुवन्) कहने लगे कि (मघवन्) हे ऐश्वर्यसम्पन्न जीवात्मन् ! (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष (किमिति) कौन है ? (एतत्) इसको (विजानीहि) विशेषकर जानने का प्रयत्न करें । इन्द्र ने (तथा, इति) वैसा ही करूंगा, ऐसा कहा और (तत्) उस यक्ष के (अभ्यद्रवत्) सम्मुख गया । (तस्मात्) उस इन्द्र से यक्ष (तिरोदधे) छिप गया ।

भावार्थ—सब देवों की प्रार्थना पर इन्द्र (जीवात्मा) यक्ष के सम्मुख गया, किन्तु इन्द्र को देखकर यक्ष छिप गया । यहां जीवात्मा को ही ऐश्वर्य सम्पन्न होने से 'मघवन्' कहा गया है । यहां यक्ष के छिपने का तात्पर्य यह है कि जब यक्ष के पास अग्नि और वायु जड़ देव आए थे तो यक्ष उनसे छिपा नहीं । इसमें रहस्य यह है कि वे दोनों देव अचेतन होने से यक्ष (ब्रह्म) को कदापि जान नहीं सकते थे । परन्तु चेतन जीवात्मा चेतनशक्ति ब्रह्म को जान सकता है । यदि जीव विद्याविहीन होने से अविद्या से ग्रस्त है और सांसारिक ऐश्वर्यों में लिप्त है, तब भी परमात्मा की प्राप्ति जीव को नहीं हो सकती । ऐश्वर्यसम्पन्न इन्द्र को देखकर यक्ष के अन्तर्धान से यही भाव द्योतित हो रहा है ।

समीक्षा—आचार्य शङ्कर ने इस आख्यायिका में इन्द्र कौन है ? और उससे यक्ष का अन्तर्भाव क्यों हुआ ? वे इस रहस्य को समझने में असमर्थ ही रहे हैं । उनके विचार में इन्द्र स्वर्गस्थ देवों का राजा है । जैसा कि उन्होंने अपने भाष्य में लिखा है—

(१) **इन्द्रः=देवानामीश्वरः ।** (केनोप० ३।१)
(२) **इन्द्रः=परमेश्वरो मघवा ।** (केनो० ३।११)
(३) **स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एकः सर्वान् उपरि अधिवसति ।** (मु० १।२।५)

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि इन्द्र को शङ्कर-स्वामी क्या मानते हैं । स्वर्ग कहां है ? वहां का राजा इन्द्र कौन है ? वह चेतन है अथवा अचेतन ? इत्यादि अनेक प्रश्नों का उनकी व्याख्या से कोई उत्तर नहीं मिलता। उनकी स्वर्गसम्बन्धी मिथ्या कल्पनाओं पर आज के वैज्ञानिक युग में कौन विश्वास कर सकता है ? यथार्थ में न कोई स्वर्गस्थान है और

न वहां का कोई राजा इन्द्र है । केवल एक ब्रह्म की सत्ता को मानने वाले इन्द्रादि देवों को मानकर कैसे अद्वैतवाद का मिथ्या दम्भ करते हैं? और इस आख्यायिका में अग्नि वा वायु देव तो इस लोक के, उनके साथ स्वर्ग के राजा इन्द्र की सङ्गति कैसे ? अतः यह सब असङ्गत कल्पना ही है ।

'स्वर्ग' शब्द का सत्य अर्थ सुखविशेष है । इस केनोपनिषद् के (४।९) खण्ड में 'स्वर्गे लोके' शब्द पठित है । जिसका अर्थ स्वयम् आचार्य शङ्कर ने 'सुखात्मके ब्रह्मणि' किया है । स्वर्गलोक विशेष नहीं। और अन्यत्र उपनिषदों में भी जो 'स्वर्ग' का वर्णन मिलता है, वह 'मोक्ष' के लिए ही है, स्थानविशेष के लिए नहीं । जैसे–

(१) **स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।** (कठो० १।१२)

अर्थात् स्वर्ग में मृत्यु, बुढ़ापे आदि का भय नहीं होता ।

(२) **शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥** (कठो० १।१८)

अर्थात् स्वर्गलोक में शोकादि दुःखों से छूटकर आनन्द में रहता है।

(३) **एषः वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥** (मुण्डक० १।२।६)

इस की व्याख्या में आचार्य शङ्कर ने 'ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात्' स्वर्ग में ब्रह्मलोक शब्दों को पर्यायवाची माना है ।

अब विद्या की सहायता से जीवात्मा को ब्रह्मप्राप्ति का कथन करते हैं–

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥३।१२॥

***पदार्थ*—**(सः) वह इन्द्र=जीवात्मा (तस्मिन्, एव) उसी अर्थात् जहां ब्रह्म यक्षरूप में प्रकट हुआ और अन्तर्धान हुआ, (आकाशे) हृदयाकाश में (हैमवतीम्) हिरण्यमयी दिव्यप्रज्ञावाली अथवा सन्ताप को नष्ट करने वाले शान्त्यादि गुणों से सम्पन्न (बहुशोभमानाम्) (उमाम्) ब्रह्मविद्यारूपी (स्त्रियम्) स्त्री के समीप (आजगाम) प्राप्त हुआ और (ताम्) उससे (ह) दुःखी सा होकर (उवाच) बोला कि (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष (किम्, इति) कौन है ?

***भावार्थ*—**इन्द्र (जीवात्मा) को यक्ष (ब्रह्म) के अन्तर्धान होने

पर बहुत दु:ख हुआ कि वह यक्ष को जानने के लिए आया था किन्तु जानने का ही अवसर नहीं मिला । तत्पश्चात् जीवात्मा ने योगाङ्गों का अनुष्ठान करते हुए अन्त:करण को शुद्ध किया और ब्रह्मविद्या को प्राप्त किया । यही इन्द्र की उमा=ब्रह्मविद्या से यक्ष को जानने की प्रार्थना है। यहां 'उमा' कोई स्त्रीविशेष नहीं है अपितु 'उमा ब्रह्मविद्या' (तैत्तिरीयोप० १।४८) इस प्रमाण से ब्रह्मविद्या का नाम ही 'उमा' है । 'उमा' अर्थ ही—'उम्=परमात्मानं माति प्रमापयति' अर्थात् जो परब्रह्म का ज्ञान कराती है । जब जीव योगसाधना करके दिव्य प्रज्ञा प्राप्त करता है, तब ब्रह्मविद्या से मिलन=ब्रह्म-प्राप्ति होती है और यक्ष (ब्रह्म) को जान पाता है । योग की दिव्यविभूतियां प्राप्त करना ही ब्रह्मविद्या (उमा) के दिव्य आभूषण हैं । इस उमा (ब्रह्मविद्या) से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, इस विषय में उपनिषदों में अन्यत्र भी कहा है—दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म- दर्शिभि: ।। (कठोप०) अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान सूक्ष्मबुद्धि से होता है । यह सूक्ष्मबुद्धि ब्रह्मज्ञान से ही होती है ।

ब्रह्म की प्राप्ति कहां होती है ? इस प्रश्न का भी यहां स्पष्ट समाधान किया है । ब्रह्म को खोजने के लिए बाह्य जगत् की कोई आवश्यकता नहीं होती । ब्रह्म को तो हृदय रूप आकाश में प्राप्त किया जाता है, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् (प्रपा० ८ । मं० १) में स्पष्टरूप से कहा है—

अथ यदिमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तरा-काशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।।

इसका अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ।" (ऋ० भू० उपासनाविषय)

इस खण्ड में वर्णित आख्यायिका के विषय में **महर्षि दयानन्द** कहते हैं—

"केनोपनिषद् में एक यक्ष की वार्त्ता है । यक्ष ने अग्नि के सम्मुख तृण डाला और अग्नि से कहा कि इस तिनके को तू जला दे । अग्नि से वह तिनका न जल सका, फिर वायु से कहा कि तू इस तिनके को उड़ा ले जा, वायु से भी वह तिनका न उड़ सका । ऐसा कहकर जो हैमवती नामक ब्रह्मविद्या है, उसका माहात्म्य दर्शाया है ।" (पूना प्रवचन ७४ पृ०)

इस तृतीय खण्ड में आलङ्कारिक आख्यायिका के द्वारा ब्रह्म की महत्ता, अग्नि आदि समस्त देवों की ब्रह्म की शक्ति से ही शक्तिसम्पन्नता, ब्रह्म का अविद्याग्रस्त से छिप जाना और विद्वान् व शान्त्यादि गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान होना इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है ।

इति केनोपनिषद्भाष्ये तृतीयः खण्डः ।।

अथ केनोपनिषदि चतुर्थः खण्डः

अब ब्रह्मविद्या के द्वारा जीव को ब्रह्म-प्राप्ति का कथन करते हैं—

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ।
ततो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।४।१।।

***पदार्थ*—**(सा) वह उमा=ब्रह्मविद्या (ह) निश्चय से (इति) इस प्रकार (उवाच) कहने लगी कि वह यक्ष (ब्रह्म, इति) ब्रह्म ही है । तुम सब (वै) निश्चय करके (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (एतद्विजये) इस विजय में (महीयध्वम्) पूजा को प्राप्त करो । (इति) इस प्रकार (ततः) उमा=ब्रह्मविद्या से जानने के बाद जीव (विदाञ्चकार) ब्रह्म के तत्त्व को समझ गया कि (ब्रह्म, इति) यह यक्ष ब्रह्म ही है ।

***भावार्थ*—**उस ब्रह्मविद्या के द्वारा देवों को यह ज्ञान हुआ कि यह तेजस्वी यक्ष ब्रह्म ही है । देवों में इन्द्र=जीवात्मा ने चेतन होने के कारण ब्रह्म-तत्त्व को समझ लिया । और यह भी देव जान गए कि ब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट शक्ति है, उसी की विजय में हमारी विजय है । अर्थात् उसी की स्तुति, प्रार्थना व उपासना करने से हमारी उन्नति सम्भव है, अन्यथा नहीं । जो उस ब्रह्म की शक्ति को न मानकर भौतिक देवों को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, उनके लिए यह उपदेश दिया है कि वे भ्रान्त हैं। क्योंकि उस ब्रह्म की अद्वितीय शक्ति से ही ये भौतिक अग्नि आदि कार्य कर रहे हैं । इनमें स्वतः कोई सामर्थ्य नहीं है । उससे बड़ा तथा उसके

समान भी कोई देव नहीं है ।

इस प्रकरण को अथवा इस आलंकारिक आख्यायिका को न समझ कर जो व्यक्ति यक्षावतार की कल्पना करते हैं और हिमालय की पुत्री उमा ने इन्द्र=जड़ बिजली को यह उपदेश दिया, ऐसा मानते हैं, उनकी मान्यता असत्य, असम्भव तथा उपनिषदों के वचनों से विरुद्ध होने से कैसे माननीय हो सकती है । हिमालय की पुत्री कौन है ? उसका जड़ बिजली को उपदेश का क्या प्रयोजन है ? और बिजली के पास उमा का स्थित रहना कैसे सम्भव है ? इत्यादि प्रश्नों का कोई उत्तर न देकर कैसे इस मान्यता को बलात् मनवाया जा सकता है ।

अब इन्द्रादि देवों की अन्य देवों से उत्कृष्टता का कथन करते हैं—

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ।
ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥४।२॥

पदार्थ—(यत्) जिस कारण से (अग्निः, वायुः, इन्द्रः) अग्नि, वायु और इन्द्र (एते देवाः) इन तीन देवों ने (हि) निश्चय करके (एनत्) इस यक्ष=ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) अत्यन्त समीपता से (पस्पर्शुः) स्पर्श किया अर्थात् ब्रह्म को जानने के लिए अग्रसर हुए और (हि) निश्चय से इन्होंने ही (एनत्) इस यक्ष=ब्रह्म को (प्रथमः) सब से प्रथम (ब्रह्म, इति) ब्रह्म है, ऐसा (विदाञ्चकार) जानने का यत्न किया अथवा जाना, (तस्मात्) इसी कारण (एते देवाः) ये तीनों देव (अन्यान् देवान्) अन्य देवों की अपेक्षा (अतितराम् इव) मानो अधिक उत्कृष्ट हैं ।

भावार्थ—इस श्लोक में अन्य देवों की अपेक्षा अग्नि, वायु तथा इन्द्र=जीवात्मा को श्रेष्ठ इसलिए बताया है कि इन्होंने ब्रह्म को सर्वप्रथम जानने का प्रयत्न किया । तात्पर्य यह है कि अग्नि प्रकाश का और वायु गति का देवता है । इनके सहयोग से चेतन इन्द्र=जीव ब्रह्म को जानने में समर्थ होता है । अर्थात् अग्नि व वायु दोनों ही मानव-जीवन के मुख्य आधार हैं, जिस मानवजीवन में ही इन्द्र=जीव ब्रह्म-प्राप्ति कर सकता है।

अब अग्नि व वायु की अपेक्षा इन्द्र=जीवात्मा की श्रेष्ठता का कथन करते हैं—

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥४।३॥

पदार्थ—(हि) क्योंकि (सः) इन्द्रः=जीवात्मा ने (वै) निश्चय करके (एनत्) इस ब्रह्म के (नेदिष्ठम्) चेतन ज्ञानादि गुणों के कारण अतीव समीप से (पस्पर्श) स्पर्श किया, ब्रह्म को जानने के लिए उपासनादि यत्न किए और (सः) उस इन्द्र ने (एनत्) इस ब्रह्म को (हि) निश्चय से (ब्रह्म, इति) यह यक्ष ब्रह्म है, इस प्रकार (प्रथमः) सर्वप्रथम (विदाञ्चकार) जाना (तस्मात्) इसी कारण इन्द्र देवता (अन्यान् देवान्) अग्नि आदि देवों की अपेक्षा (वै) निश्चय करके (अतितराम् इव) मानो अधिक उत्कृष्ट हुआ ।

भावार्थ—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०" मन्त्र में जीवात्मा व परब्रह्म को कतिपय ज्ञान चेतनादि गुणों की समानता के कारण 'सयुजा सखाया' कहा है । किन्तु जीव-ब्रह्म एक कदापि नहीं हैं । दोनों के परस्पर व्याप्य-व्यापक, सेव्य-सेवक, उपास्य-उपासकादि सम्बन्ध हैं । अग्नि आदि अचेतन देवों की अपेक्षा चेतन इन्द्र=जीवात्मा ब्रह्म की उपासनादि करने के कारण ब्रह्म के नेदिष्ठम्=अत्यन्त समीप है । इसीलिए इन्द्र अन्य देवों में श्रेष्ठ है ।

अब ब्रह्मज्ञान को विद्युत् के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं–

तस्यैष आदेशो यदैतद् विद्युतो व्यद्युतत्तदा इतीति, न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥४।४॥

पदार्थ—(तस्य) उस प्रकट तथा अन्तर्धान हुए यक्षरूप ब्रह्म का (एषः) यह पूर्वोक्त (आदेशः) दृष्टान्त है अर्थात् आलङ्कारिक वर्णन है। वह यक्षरूप ब्रह्म (विद्युतः, आ) बिजली की तरह (आ इति उपमार्थे) (व्यद्युतत्) चमका तथा (आ, न्यमीमिषत्) आंख की झपक के सदृश प्रकट हुआ और छिप गया (इति) इस प्रकार का (अधिदैवतम्) देवता विषयक उपमा देकर ब्रह्म का उपदेश किया है ।

भावार्थ—ब्रह्मरूप यक्ष के प्रकट होने तथा बाद में छिपने के दृष्टान्त से यह भी स्पष्ट किया गया है कि जब योगी अपनी चित्तवृत्तियों को रोककर ब्रह्म की तरफ लगाता है तो उस प्रथमावस्था में कभी-कभी ब्रह्म का वैसा ही प्रकाश प्रतीत होकर छिप जाता है, जैसे बिजली चमक कर तत्काल छिप जाती है । तत्पश्चात् व्यापक ब्रह्म का योगी के हृदय में अवभास धीरे-धीरे बढ़ने लगता है । योगी उस ब्रह्म के प्रकाश तथा

आनन्द के लिए फिर अनवरत प्रयास करने लगता है । यद्यपि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन बाह्य किसी भी पदार्थ से नहीं किया जा सकता । वह तो अवर्णनीय है पुनरपि बाह्य देवता की उपमा से यहां सामान्यजनों को बोध कराया गया है ।

ब्रह्म-ज्ञान को मन के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्य-भीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥४।५॥

पदार्थ—(अथ) आधिदैविक दृष्टान्त के बाद (अध्यात्मम्) शरीर के भीतर (अन्तःकरणविषयक) मन का ब्रह्मज्ञान में दृष्टान्त देते हैं । (यत्) जिस पूर्वोक्तगुणवाले ब्रह्म के प्रति (एतत्, मनः) यह मन (गच्छति, इव) चलता हुआ सा जान पड़ता है । (च) और (अनेन) इस मन से (अभीक्ष्णम्) बार-बार (सङ्कल्पः) निश्चय करके (उपस्मरति) समीपता से ब्रह्म का स्मरण करता है ।

भावार्थ—यहां अध्यात्म उपदेश है अर्थात् जिसको ब्रह्म को जानने और दुःखों से छूटने की इच्छा हो वह पुरुष इस प्रकार ध्यान करे कि मेरा मन उस परम ज्योति ब्रह्म की ओर जा रहा है, मेरा यही दृढ़ सङ्कल्प हो कि मैं ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ही सदा पूर्ण यत्न कर रहा हूं । यथार्थ में जब योगी की ब्रह्माकार वृत्ति हो जाती है तो उसका मन बाह्यविषयों से निरुद्ध होकर परब्रह्म की तरफ जाता सा प्रतीत होने लगता है । यथार्थ में सर्वव्यापक परब्रह्म तो मन में भी विद्यमान है, अतः मन कहीं जाता नहीं । और अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रकाश होने से मन ब्रह्म का ही अनवरत चिन्तन करता है । जैसा कि योगदर्शनकार मुनि ने भी कहा है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (योग०)

अर्थात् चित्त की वृत्तियों के बाह्यविषयों से निरोध होने पर द्रष्टा=परब्रह्म के स्वरूप में स्थित हो जाता है ।

ब्रह्म ही उपासना के योग्य है, यह कथन करते हैं—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवम् ।
वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥४।६॥

पदार्थ—(तत्) वह पूर्वोक्त ब्रह्म (ह) निश्चय से (तद्वनम्)

योगियों वा विद्वानों से सेवन करने योग्य है, अतः उसका (नाम) प्रसिद्ध (तद्वनम्) 'तद्वन' नाम है, (इति) इस प्रकार (उपासितव्यम्) उस ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए । (सः, यः) सो जो मनुष्य (एतत्) इस ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (अभिवेद) सब प्रकार से जानता है, (एनम्) उस उपासक की (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (ह) निश्चय से (संवाञ्छन्ति) इच्छा करते हैं अर्थात् उस उपासक का सब सम्मान करते हैं और उसके अनुयायी बन जाते हैं ।

भावार्थ—सब देवों का एक मात्र ब्रह्म ही आश्रय करने योग्य होने से सर्वोत्कृष्ट है । उसी की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिए जो उपासक इस रहस्य-विद्या को जानकर ब्रह्म से भिन्न जड़ देवों की उपासना का परित्याग कर देता है, वह ही वास्तव में ज्ञानी कहलाता है। उस सच्चे उपासक की ही सदा लोक में प्रतिष्ठा होती है और दूसरे मनुष्य उसको हृदय से चाहते हैं । सच्चा उपासक प्राणीमात्र में ब्रह्म की सत्ता मानकर सब के साथ प्रेम का व्यवहार करता है, और राग-द्वेषादि से शून्य होने के कारण सब प्राणियों का प्यारा बन जाता है ।

उपनिषत् के प्रारम्भ में शिष्य द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देकर गुरु अब उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥४।७॥

पदार्थ—हे शिष्य तुमने कहा था कि (भोः) हे पूज्य गुरुदेव ! (उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या को (ब्रूहि, इति) कहिए, इस प्रकार । गुरु ने कहा सो (ते) तेरे लिए (उपनिषद्) ब्रह्मविद्या (उक्ता) मैं कह चुका (वाव) निश्चय करके (ते) तेरे लिए (ब्राह्मीम्) ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी (उपनिषदम्) रहस्य विद्या को (अब्रूम, इति) हम कथन कर चुके हैं । 'इति' शब्द ब्रह्मविद्या के पूर्ण होने का सूचक है ।

भावार्थ—शिष्य ने गुरु से 'केनेषितं' इत्यादि कहकर ब्रह्मविद्या के विषय में जिज्ञासा की थी । गुरु ने ब्रह्मविद्या का उपदेश करके उसकी समाप्ति की सूचना यहां दी है । इसे 'ब्राह्मी उपनिषद्' कहकर गुरु ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि देव और यक्ष की जो आख्यायिका इसमें दी गई है, वह ब्रह्म को समझाने के लिए ही दी गई है । ब्रह्म से

भिन्न यक्ष कोई अन्य देव नहीं है ।

अब ब्रह्मविद्या का प्रवचन करने के बाद गुरु ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के साधनों का शिष्य के प्रति कथन करते हैं–

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः ।
सर्वाङ्गानि सत्यम् आयतनम् ॥४।८॥

***पदार्थ*—**(तस्यै) उस ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए (तपः) शीत-उष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ इत्यादि द्वन्द्वों की सहनशीलता, (दमः) मन तथा बाह्येन्द्रियों का निग्रह, (कर्म) वेदोक्त अग्निहोत्रादि तथा सदाचरणादि कर्म (इति) ये ही तीन ब्रह्म-ज्ञान के मुख्य साधन हैं । और (प्रतिष्ठाः) दुष्कर्मों को छोड़कर सत्कर्मों के अनुष्ठान से लोक में प्रतिष्ठा=प्रशंसा प्राप्त करना, अथवा शरीर, इन्द्रिय तथा मन की चञ्चलतारहित स्थिति प्रतिष्ठा कहाती है, (वेदाः) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चारों वेदों (सर्वाङ्गानि) और वेद के छः अङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र और ज्योतिष शास्त्र) का पठन-पाठन (सत्यम् आयतनम्) सब श्रेष्ठ व्यवहारों के आधार सत्य का मन, वचन, कर्म से आचरण करना, ये पूर्वोक्त तप आदि साधनों के सहायक साधन हैं ।

***भावार्थ*—**ब्रह्मविद्या प्राप्ति के साधनों में सत्य को आयतनम्= आधार माना है । क्योंकि सत्याचरण के विना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती । जैसा कि मनु ने कहा है–'मनः सत्येन शुध्यति' अर्थात् मन की शुद्धि सत्य से होती है । जब तक अन्तःकरण मलीन है, तब तक उपर्युक्त सभी साधन निरर्थक ही रहते हैं । अर्थात् सभी साधनों का मुख्य लक्ष्य है–मन की शुद्धि । जैसे कि कहा है–

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ (मनु०)

जो मलीन अन्तःकरण वाला पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते । और अन्तःकरण की शुद्धि में मुख्य साधन सत्य है, अतः सत्याचरण को "आयतन" कहा है। किसी कवि ने सत्य का माहात्म्य ठीक ही कहा है–

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ॥

अर्थात् हजारों अश्वमेध यज्ञों के करने से जो फल मिलता है, सत्याचरण से उससे भी अधिक फल मिलता है ।

अब ब्रह्मविद्या के फल का कथन करते हैं—

यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानम्, अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतिष्ठिति प्रतितिष्ठति ॥४।९॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (एताम्) इस केनोपनिषद् में वर्णित ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त साधनों सहित (वै) निश्चय से (वेद) जानता है, वह (पाप्मानम्) जन्म-जन्मान्तरों से सञ्चित अन्तःकरण की मलीन वासनाओं को (अपहत्य) नष्ट करके (अनन्ते) जन्म-मरणादि से अपरिच्छिन्न तथा विनाशरहित (ज्येये) सर्वोत्कृष्ट (स्वर्गे लोके) मोक्ष में (प्रतितिष्ठति) दुःखों से छूटकर स्थित हो जाता है । 'प्रतितिष्ठति' शब्द के दुबारा पाठ का प्रयोजन है—अतिशयकर स्थिति बताने तथा ग्रन्थ की समाप्ति बताने के लिए है ।

भावार्थ—'विद्ययाऽमृतमश्नुते' (यजु०) विद्या से अमृत=मोक्ष की प्राप्ति होती है । इस वैदिक विधि के अनुसार उपनिषत्कार ने उसे स्पष्ट कर समझाया है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद्या और तप, दम=जितेन्द्रियता तथा कर्म=धर्माचरणादि दोनों आवश्यक हैं । इसी भाव को यहां "एवम् वेद" कहकर स्पष्ट किया है । और यहां यह भी संकेत किया है कि ब्रह्मविद्या ज्ञानयोग व कर्मयोग का समन्वितरूप ही है । ज्ञानयोग के विना कर्मयोग नेत्रहीन अन्धे के समान और कर्मयोग के विना ज्ञानयोग पङ्गुवत् ही अधूरा रहता है । और अन्तःकरण की मलीन पाप-वासनाएं ब्रह्म की उपासना से दग्ध हो जाती हैं, यही पापों का दूरीकरण है । किन्तु पापकर्मों का फल अवश्य भोगना होता है । 'स्वर्ग' कोई ऊपर स्थान-विशेष नहीं है, यह विशेषसुख मोक्ष के लिए यहां प्रयुक्त हुआ है । आचार्य शङ्कर ने भी यहां स्वर्ग का अर्थ "सुखात्मके ब्रह्मणि" ही किया है । अतः स्वर्गलोक की कल्पना, उसे एक स्थान-विशेष मानना वहां पर देवों का निवास और वहां का राजा इन्द्र है, इत्यादि पौराणिक-कल्पनाएं मिथ्या ही हैं । और यहां 'स्वर्ग' के लिए 'अनन्ते' विशेषण पठित है, जिसका अर्थ आचार्य शङ्कर ने 'अपर्यन्ते' किया है । जिसका अर्थ उन्होंने यह लगाया है कि मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं होती,

अतः अनन्त काल तक मोक्ष होता है । किन्तु यह अर्थ उपनिषत्कारों तथा वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से कदापि माननीय नहीं हो सकता। युक्ति से भी इसका खण्डन हो जाता है । मोक्ष का सुख हमारे कर्मों का ही फल है, अतः हमारे सान्तकर्मों का फल अनन्त कैसे सम्भव है ? यह ईश्वरीय कर्मफल-व्यवस्था से विरुद्ध मान्यता है । ब्रह्म में जीव का लय मानकर अद्वैतवादी ऐसा अर्थ करते हैं किन्तु जीवात्मा चेतन और ब्रह्म से भिन्न नित्य सत्ता है, यह हमने इसमें स्थान-स्थान पर सप्रमाण दर्शाया है । अतः मोक्ष में जीव का लय कभी नहीं होता । "ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।" (मुण्डक०) इत्यादि उपनिषत् की अन्तःसाक्षी से स्पष्ट है कि जीवों की मोक्ष से पुनरावृत्ति होती है । अतः यहां 'अनन्ते' पद का अर्थ 'विनाशरहित' अथवा 'मृत्यु' आदि से 'रहित' ही उचित तथा सङ्गत है ।

इस चतुर्थ-खण्ड में ब्रह्मविद्या, इन्द्रादि देवों की उत्कृष्टता, ब्रह्मज्ञान में विद्युत् तथा मन का दृष्टान्त, ब्रह्म ही उपासनीय है, ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का वर्णन तथा ब्रह्मविद्या के फलादि विषयों का वर्णन किया गया है ।

इति केनोपनिषद्भाष्ये चतुर्थः खण्डः ।।

समाप्ता चेयं ब्राह्मी केनोपनिषद् ।।